संपादक

श्रवणकुमार

प्रकाशक : आलेख प्रकाशन
वी-८, नवीन शाहदरा
दिल्ली-११००३२

प्रथम संस्करण : १९७८

मूल्य : बाईस रुपये

ADHUNIKTA BODH KI VISHISHTA KAHANIYAN : edited by
Shrawan Kumar
Rs. 22.00

भूमिका

हर आदमी के भीतर किसी न किसी बात को लेकर तर्क-वितर्क चलता रहता है। वह कुछ नकारता है, कुछ स्वीकारता है। नकारने-स्वीकारने की इसी प्रक्रिया को थोड़ा आगे बढ़ायें तो बात मूल्यों पर आ टिकती है। कुछ मूल्य स्थायी महत्त्व के कहे जाते हैं और कुछ अस्थायी। स्थायी महत्त्व के मूल्यों को 'शाश्वत मूल्य' भी कहा जाता है। लेकिन आदमी के भीतर चल रही तर्क-वितर्क या नकारने-स्वीकारने की प्रक्रिया हर प्रकार के मूल्य को पड़तालती रहती है। उसे किसी तरह की शाश्वतता मंजूर नहीं। एक समय का 'चरम सत्य' कालांतर में 'सापेक्ष सत्य' बन जाता है। सत्रहवीं शताब्दी में न्यूटन का 'गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत' चरम सत्य बनकर हमारे सामने आया, लेकिन होते-होते बीसवीं शताब्दी में आइंस्टाइन ने उसे चुनौती दे दी और बाद में स्वयं आइंस्टाइन को भी चुनौती मिल गयी। इसी तरह डार्विन और फ्रायड ने भी अपने युग का चरम सत्य प्रतिपादित किया, बल्कि कई हलकों में वह अब भी चरम सत्य बना हुआ है, लेकिन समय-समय पर उसे भी चुनौती मिलती रहती है। ऐसे सत्यान्वेषियों में एक नाम कार्ल मार्क्स का भी है। मार्क्स ने धन को आदमी का सबसे बड़ा शत्रु ठहराया और दारिद्र्य के शिकंजे में तिलमिलाती मानवता के लिए परित्राण की राह ढूंढ़ी। उनका कहना था कि राजनैतिक संस्थाएं ही नहीं, धार्मिक तथा साहित्यिक मूल्य भी आदमी की आर्थिक अवस्था के अनुसार ढलते-बनते हैं। मार्क्स ने जो प्रतिपादित किया, आज उसे भी चुनौती मिल रही है, लेकिन अधिकतर इस कारण नहीं कि उनके चिंतन में खोट था, बल्कि इस कारण कि उनके अनुयायियों ने जो राह अपनायी, उसमें असहिष्णुता, हठधर्मिता एवं निरंकुशता थी। मत-भिन्नता के आधार पर अपने विरोधी को पागल करार देकर उसे किसी यातना-शिविर में पटक देना या टैंकों-तोपों से उसकी हस्ती को मिटा देना उनका शेवा बन गया। मार्क्स ने कभी असहिष्णुता तथा हठधर्मिता का प्रचार नहीं किया। उनके निकट फ्लाबेयर भी उतने ही महान कलाकार थे जितने कि दोस्तोएव्स्की। उन्होंने पहचाना कि एक सृजनशील कलाकार जहां बाह्य जगत् की विडंबनाओं को नज़र-अंदाज़ नहीं कर सकता, वहां भीतरी जगत् की गहराइयों को कूतना

भी उसके लिए उतना ही लाजिमी है।

बहरहाल, मानव-दारिद्र्य का सवाल कोई नया नहीं है। यह उतना ही पुराना होगा जितनी कि मानव-सभ्यता है। यदि एक व्यक्ति दूसरे से किसी रूप में अधिक शक्तिशाली है तो वह कमजोर व्यक्ति पर जरूर गालिब हो जायेगा। हां, व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि वह उस शक्तिशाली व्यक्ति को गालिब न होने दे। फिर, शक्ति केवल आर्थिक ही नहीं, मानसिक भी होती है, और हम देखते हैं कि जहां आर्थिक रूप से दो व्यक्ति समान हैं, वहां मानसिक रूप से वे एक-दूसरे को प्रताड़ित कर सकते हैं। यानी आदमी आदमी के बीच किसी न किसी तरह की दीवार जरूर हायल रहती है। क्या इस दीवार को किसी तरह मिसमार किया जा सकता है? यह एक अहम सवाल है जिसपर बारीकी से विचार करना होगा।

बेशक, रोटी का मसला सर्वोपरि है। यह मसला हल हो जाये तो फिर दूसरे मसले अपना सिर उठाते हैं। उन मसलों पर हमारे देश के आदिमनीषियों ने काफी विचार किया है। वेद-वेदांत-उपनिषद्, सब उसी काल की देन हैं। महा-भारत भी लगभग उसी काल की देन है। यह काल कितना पुराना है, इसके बारे में अब भी अटकलबाजियां हैं। जहां पश्चिमी कालवेत्ता इसे महज तीन-चार हजार वर्ष पहले का मानते हैं, वहां लोकमान्य तिलक जैसे विद्वान इसे कम से कम दस हजार वर्ष पुराना ठहराते हैं। इसके साथ-साथ हमारे यहां कुछ ऐसे समय-निरपेक्षी भी हैं जिनकी नजरों में वेदों का प्रणयन समयहीनता में हुआ—यानी ये ग्रंथ कालातीत हैं। खैर, इन ग्रंथों का प्रणयन-काल चाहे कुछ भी रहा हो, लेकिन इतना तो स्वीकार करना होगा कि आज से कुछ हजार वर्ष पहले भी आदमी की रूहानी समस्याएं लगभग वैसी ही थीं जैसी कि आज हैं और यह भी कि इस दिशा में मानव-मस्तिष्क उस समय भी उतना ही विकसित था जितना कि आज है, बल्कि किन्हीं अर्थों में आज के विकसित मस्तिष्क से भी अधिक विकसित था। तब आदमी के सतत विकास वाले सिद्धांत पर कहां तक यकीन किया जाये? वैसे श्रीअरविंद भी आदमी के सतत विकास में यकीन रखते थे और तभी उन्होंने 'पूर्णरूप से विकसित आदमी' की बात की। उनका मत है कि ऐसा आदमी आज से कुछ दशकों बाद ही संभव हो सकेगा।

लेकिन विज्ञान भी चुप नहीं है। वह नये से नये क्षितिज, नये से नये आयाम खोज निकालने की धुन में है। हम चांद पर पहुंच चुके हैं, अन्य ग्रहों पर पहुंचने की बेताबी बनी हुई है। जहां इस सौरमंडल के रहस्य खोजे जा रहे हैं, वहां इस सौरमंडल के परे अन्य सौरमंडलों का पता लगाने में भी कोई कोताही नहीं बरती जा रही। शल्य-चिकित्सा अपने चमत्कार दिखा रही है, परा-मनोविज्ञान भी भटकते-भटकते कहीं न कहीं शायद पहुंच जाये। लेकिन यदि हम थोड़े-से अती-

तोन्मुखी हो जायें तो हमारे यहां की तंत्रविद्या तथा यौगिक क्रियाएं भी हमें कम आश्चर्यचकित नहीं करतीं। यानी, कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि यह ब्रह्मांड एक रहस्य है जिसे खोजते-खोजते सदियां बीत गयी हैं और बीत जायेंगी। हां, इस रहस्य को खोज निकालने में यदि हमारे पुरातन ग्रंथ हमारी सहायता करें तो किसी गुमान में उनसे हमें बचने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।

तब सवाल उठता है कि आधुनिकता-बोध है क्या ?

निश्चय ही यह पुराने मूल्यों को पड़तालना और आवश्यक हो तो उन्हें नकारना तथा नये मूल्यों को खोजना तथा आवश्यक हो तो उन्हें स्वीकारना है। नकार-स्वीकार की यह प्रक्रिया एक सतत प्रक्रिया है। लेकिन अधिकांश व्यक्ति ऐसे हैं जो नकार-स्वीकार की इस प्रक्रिया में पीछे पड़ जाते हैं। वे अधिकतर परिपाटी का ही अनुसरण करते हैं। परंपरा उन्हें रास आती है। हां, फैशन-परस्ती में जरूर वे बाजी मार ले जाना चाहते हैं। लेकिन फैशनपरस्ती आधुनिकता नहीं, ऐसे ही जैसे नग्नता का चित्रण कला नहीं। कला में नग्नता भी हो सकती है, लेकिन तब जब वह किसी कृति की भीतरी मांग हो। साहित्य में भी नग्नता तभी खप पाती है जब वह किसी रचना की निजी मांग हो। यशपाल की कई कहानियों में नग्नता है। उनके उपन्यास 'झूठा सच' में भी नग्नता है। लेकिन 'झूठा सच' की नग्नता महेन्द्र भल्ला के उपन्यास 'एक पति के नोट्स' या गिरिराज किशोर की कहानी 'मवेशी' की नग्नता से भिन्न है। यशपाल ने कहीं चटखारे नहीं लिये। उनके उपन्यास में चित्रित नग्नता उपन्यास का अनिवार्य अंग है। उसके बिना आप परिवेश की क्रूरता रेखांकित नहीं कर सकते। लेकिन 'एक पति के नोट्स' की नग्नता ? लगता है जैसे लेखक ने वह उपन्यास एक स्थल-विशेष को केन्द्र में रखकर लिखा था। श्रीकांत वर्मा का उपन्यास 'दूसरी बार' भी लगभग वैसी ही कृति है। यहां मूल्यों का नकार-स्वीकार नहीं, केवल मांसलता में धंसने की ललक है। स्पष्टतः ऐसी रचनाएं आधुनिक नहीं कही जा सकतीं, ज्यादा से ज्यादा वे गलित पूंजीवाद की बोसीदा प्रवृत्ति की सूचक हो सकती हैं। ऐसी बोसीदा प्रवृत्ति का नंगा नाच पश्चिम में खूब हुआ है और हो रहा है। हमारे यहां भी अब काफी होने लगा है, लेकिन 'एक पति के नोट्स' या 'दूसरी बार' जैसी रचनाओं में केवल नंगा नाच ही है, उस बोसीदा प्रवृत्ति की ओर कोई संकेत नहीं। इस संदर्भ में अमरीकी लेखक सैलबी जूनियर की कहानी 'ट्रा-ला-ला' देखी जा सकती है जिसमें दोनों का सृजनात्मक समन्वय है। तब हम किन मानों में महेन्द्र भल्ला या श्रीकांत वर्मा की रचनाओं को आधुनिक मानें ? इस लिहाज से मधुकर सिंह या जगदीशचंद्र पांडेय या मिथिलेश्वर या नवेंदु मेरे निकट अधिक आधुनिक हैं जो निपट गांव की बात कहते हैं, लेकिन

साथ ही वहां जन्म लेते नये मूल्यों के आलोड़न को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देते।

यहां मैं आज की राजनीति के बारे में कुछ कहना चाहूंगा। माना कि सृजनशीलता तथा राजनीति का आपस में कोई गहरा संबंध नहीं, लेकिन आज के माहौल में राजनीति कुछ इस तरह रच-बस गयी है कि सृजनशीलता अनिवार्य रूप से राजनैतिक चिंतन से जुड़ गयी है। इसका एक कारण यह भी है कि हमारे देश में ही नहीं, विश्व के प्रायः हर कोने में सामंतों-राजाओं का युग लद गया है। तानाशाही भी धीरे-धीरे अपना दम तोड़ चुकी है। यदि कहीं इन तानाशाहों-सामंतों के अवशेष बचे भी हैं तो उन्होंने भी अपने ऊपर लोकतंत्र का मुलम्मा चढ़ा लिया है, क्योंकि जो ग्राह्यता लोकतंत्र या जनतंत्र में है, वह किसी और तंत्र में नहीं। पर इस लोकतंत्र-जनतंत्र का रूप भी प्रायः हर देश में विकृत हुआ मिलता है। कहीं 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' है, लेकिन खाने को दो जून रोटी नहीं। कहीं दो जून रोटी सुनिश्चित है तो 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' नहीं। तब प्रश्न उठता है कि इन दोनों में से हम क्या चुनें? पर जब पेट में रोटी जायेगी तो आदमी अपने को अभिव्यक्त करना जरूर चाहेगा, चाहे वह किसी रूप में करे, गाकर, नाचकर या चित्रांकन के माध्यम से। जब तक यह अभिव्यक्ति आदमी के हित तथा उसके विकास से जुड़ी रहती है, तब तक वह सार्थक रहती है, लेकिन जैसे ही अभिव्यक्ति अभिव्यक्ति के लिए हो जाती है, वह अपनी सार्थकता खो देती है। तब अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की मांग करना महज ऐयाशी के लिए दुहाई देना है। आस्कर वाइल्ड ने हमें 'कला कला के लिए' का पाठ पढ़ाया, कुछ लोगों को तुलसीदास के 'स्वान्तःसुखाय' में भी इसीकी अनुगूंज मिलती है और कुछ को कालिदास से भी शायद इस बिंदु पर सहायता मिले, लेकिन सचाई यही है कि लोकहित तथा सोद्देश्यता अभिव्यक्ति से अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं।

बेशक, राजनीति में कहीं न कहीं दोगलापन, कहीं न कहीं गंदगी है। लेकिन सच्ची बात कड़वी लगती है। बहरहाल, इस कड़वेपन का काफी तीखा एहसास शक्तिपाल केवल की कहानी 'स्वागत' में होता है। लोग पूछते हैं—"कहानी का मुख्य पात्र किस राजनीतिक पार्टी के दफ्तर में ठंड से अकड़कर मर गया?" शायद पार्टी का नाम लेना जरूरी नहीं। वह किसी भी पार्टी के दफ्तर में मर सकता था। प्रदीप पंत की 'आम आदमी का शव' भी ऐसी ही सचाई सामने लाती है।

यहां अपने देश की कुछ विशेष स्थितियों का उल्लेख करना भी असंगत नहीं होगा। जातिवाद तथा वर्णवाद की जैसी रूढ़िता हमारे यहां है, वैसी शायद और

कहीं नहीं। अन्यत्र रंग के आधार पर भेदभाव तथा प्रताड़न होता है या आर्थिक असमानता के आधार पर शोषण होता है, पर जाति तथा वर्ण के आधार पर शोषण-प्रताड़न भारत की 'अपनी चीज' है। हरिजन समस्या हमारे यहां की एक विचित्र समस्या है। बाकी सब जातियां कमोबेश आपस में संक्रमित हो रही हैं; लेकिन हरिजन जाति ही एक ऐसी जाति है जो आर्थिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से पहले से अपेक्षाकृत मजबूत होने के बावजूद अभी तक विभेद का शिकार है। यह नहीं कि हरिजनों तथा तथाकथित सुजातियों के बीच संसर्ग नहीं हुआ, लेकिन उसके बावजूद विभेद-कंप्लैक्स अपनी जड़ जमाये हुए है। तब उस कंप्लैक्स से कैसे मुक्ति पाई जाए ?

उधर ऐसे सवर्ण या सुजातीय भी हैं जिनका आर्थिक आधार कमजोर होने के कारण अवहेलना ही उनके हिस्से आती है। अनुसूचित जाति वालों के लिए सरकारी सुरक्षण उपलब्ध है, पर उनके लिए वह भी नहीं। वे टूटते हैं, पिसते हैं, हारते हैं, गिरते हैं, और अंत में नेस्तोनाबूद हो जाते हैं। यह एक अजब स्थिति है, एक अजब विडंबना है। इधर जो हल निकले भी हैं, वे एकतरफे हैं। उनमें राग-द्वेष की भावना अधिक रहती है, संपूर्ण स्थिति का जायजा नहीं होता।

बहरहाल, मैं एक ऐसे जनतंत्र में विश्वास रखता हूं जिसमें किसी प्रकार का शोषण-अन्याय तथा भेदभाव न हो। निस्संदेह, मैं पूंजीवाद के खिलाफ हूं, लेकिन मैं यह भी नहीं चाहता कि केंद्रीकृत तंत्र के तहत आदमी की प्रेरणा के स्रोत सूख जायें। (मेरे लिए नये मूल्यों का अन्वेषण इसी दिशा में है और आधुनिकता मेरे लिए इसी संदर्भ में सार्थकता रखती है।)

इस संकलन के लिए कहानियों चयन करते समय मेरे सामने यही कसौटी रही। कमलेश्वर की 'इतने अच्छे दिन···' ने मुझे चौंकाया। कहां तो उद्योगीकरण के हमारे इतने लंबे-चौड़े दावे और कहां उस 'उद्योगीकरण' के जेरेसाया पलने वाले अपनी हड्डियां तोड़ते-बेचते कमली जैसे साधारण लोग। रचनाकार ने युग की सच्चाई को नये कोण से देखने की कोशिश की है। इब्राहीम शरीफ, आलमशाह खान, कामतानाथ, जितेंद्र भाटिया, सुदीप, शक्तिपाल केवल, प्रदीप पंत, रमेश गुप्त, मधुमालती—ये सब अपने-अपने ढंग से कोई न कोई सच्चाई बयान कर रहे हैं, क्योंकि उन्होंने पुराने मूल्यों को अपने तईं परखा है, जरूरत पड़ने पर उन्हें नकारा है और नये मूल्यों को स्वीकारा भी है। हरिजन उनके नजदीक सम्मानपूर्वक जीवन जीने के उतने ही हकदार हैं जितने कि अपने-आपको सवर्ण तथा सुजातीय कहने वाले लोग। सच्चिदानन्द धूमकेतु उन चालबाजों की साजिश खूब समझते हैं जो गरीबी में किसी तरह जी रहे एक भाई के हाथों दूसरे भाई का खून करवा सकते हैं। सुरेन्द्र अरोड़ा की नजर इस साजिश के दूसरे पहलू

पर अटकती है और वह पूछना चाहते हैं कि क्या गरीबी एक बिकाऊ जिन्स है ? अभिमन्यु अनत आदमी की बेबसी का एक और पहलू हमारे सामने उद्‍घाटित करते हैं और आप ताज्जुब कर उठते हैं कि सच, क्या यही है हमारी आधुनिकता ? यानी, क्या पैसे के बल-बूते पर आप इस संसार की कोई भी चीज खरीद सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर अपने ढंग से से० रा० यात्री की कहानी 'शायद···' भी देती है। लेकिन 'शायद···' में आज की 'नवधनाढ्य' संस्कृति का भी खासा खाका खींचा गया है और मूल्यों का टकराव भी है। ऐसा ही टकराव सुरेश उनियाल की कहानी 'धुन' में है।

स्वर्ग क्या है ? इसकी कल्पना कई तरह से की गई है। हो सकता है कभी वैज्ञानिक खोज भी इस तरफ रुख करे। लेकिन कुछ लोगों की निगाह में स्वर्ग-नरक सब यहीं है, इसी पृथ्वी पर, और उनका निर्माण स्वयं आदमी आदमी के लिए करता है। कुछ इसी तरह के स्वर्ग पर माहेश्वर की दृष्टि पड़ी है। लेकिन यह स्वर्ग, दरअसल, नरक का पर्याय है, ऐसे ही जैसे कमलेश्वर की कहानी में 'बुरे दिन' 'अच्छे दिन' के पर्याय बन गए हैं।

घाटियां काटी जाती हैं, पहाड़ तोड़े जाते हैं, सड़कें बनती हैं, पुल खुलते हैं, लेकिन रास्ता फिर भी बंद रहता है। क्यों ? यह एक विचित्र विरोधाभास है। आधुनिकता की दुहाई देने वाले इस आज के जीवन में यह विरोधाभास गहरे पैठा हुआ है। यह विरोधाभास यहां संकलित प्रायः सभी कहानियों में है। यह विरोधाभास हिमांशु जोशी की कहानी 'रास्ता रुक गया है' में भी है।

अंत में आभार के दो-एक शब्द भी। उन साथी-लेखकों के प्रति जिन्होंने सहृदयतापूर्ण अपनी अनुमति दी और प्रकाशक के प्रति भी जिसने इस आयोजन को कार्य-रूप देकर मेरे प्रयास को सफल बनाया।

अनुक्रम

□□

बख्शीश	१३	अभिमन्यु अनत
आवाज की अरथी	२३	आलमशाह खान
मर्यादाहीन	३९	इब्राहीम शरीफ
इतने अच्छे दिन...	४७	कमलेश्वर
लड़के	५८	कामतानाथ
जंगल	६२	जितेंद्र भाटिया
आम आदमी का शव	७३	प्रदीप पंत
अनावृत्ति	७९	मधु मालती
स्वर्ग	८८	माहेश्वर
अन्तिम संस्कार	९४	रमेश गुप्त
स्वागत	१०३	शक्तिपाल केवल
खंडहर	१०८	श्रवणकुमार
छिपे हुए हाथ	११४	सच्चिदानन्द धूमकेतु
अंतहीन-दो	१२५	सुदीप
आदमी	१३३	सुरेंद्र अरोड़ा
घुन	१४१	सुरेश उनियाल
शायद	१४७	से० रा० यात्री
रास्ता रुक गया है	१५५	हिमांशु जोशी
लेखक-परिचय	१६१	
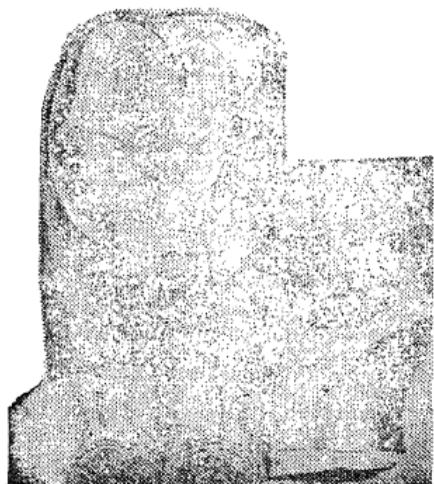
बख्शीश

एक हाथ में तनख्वाह, दूसरे में बख्शीश। वह खुद तराजू था। उसके कंधे हिले और लगा कि बख्शीश वाला हाथ अधिक भारी है। उसके दोस्त पहले होटल के ग्राहकों के लिए दुआ मांगते, फिर मालिकों के लिए। उसने दुआओं पर कभी यकीन नहीं किया था, इसलिए उसके मुंह से दुआ नहीं निकली। उसके अपने घर एक छोटा भाई और दो छोटी बहनें थीं। तनख्वाह तो वह मां के हाथों में रख देगा, पर बख्शीश ! रतन और मीनू के हाथों में ? ताकि उनकी पढ़ाई बख्शीश की पढ़ाई कहलाये !

पहले दिन उसके हाथ में बख्शीश रखने वाला दक्षिण अफ्रीका का गोरा था। उसके हाथ में उसने एक फुट ऊपर से ही रुपया छोड़ दिया था। वह तीन दिन से उस आदमी की सेवा में था। पर पहले ही दिन उसका हाथ गोरे के हाथ से छू गया था। वह ह्विस्की में बर्फ छोड़ रहा था—ह्विस्की छलक गयी थी। उस व्यक्ति ने घूरकर महेश्वर को देखा था। दूसरे दिन सर्विस के वक्त महेश्वर के हाथ से कॉफी छलक गयी थी। गोरे के मुंह से निकल पड़ा था, "यू ब्लैक बास्टर्ड !"

महेश्वर को ब्लैक शब्द का अर्थ आता था, पर उसे लगा, उस आदमी को नहीं आता। आता, तो वह उसे चाक-

लेट बास्टर्ड कहता। उसी आदमी का सफेद रुपया जब उसकी हथेली पर गिरा था तो उस समय उसके भीतर जो पहली प्रतिक्रिया हुई थी वह पैसे को फेंक देने की थी। पर पैसा अगर आदमी के हाथ में दो सेकंड रह जाय, तो विचार बदलने में देर नहीं लगती। उस सफेद रुपये ने उसके सांवलेपन को कालेपन में परिवर्तित कर दिया था। परिवर्तन का कारण वह हीन भावना थी जिससे उसके शरीर की सक्रियता ढीली पड़ गयी थी। कमरे में अकेले रह जाने पर उसकी मुट्ठी अपने-आप बंद हो गयी थी। मुट्ठी में वही रुपया था जिसके लिए वह तीन महीने की सजा भुगत आया था। वे तीन महीने तीन वर्ष भी हो सकते थे . . . खैर, नियति की रियायत से उसने अपने को बोझिल करना नहीं चाहा।

उसकी मुट्ठी का वह गोल रुपया चाहे अपमान की ही सौगात क्यों न था, उसे फेंका नहीं जा सकता था। उस गोल रुपये के पीछे महेश्वर काफी दौड़ चुका था—बेतहाशा। वह दौड़ता ही गया था। रुपया लुढ़कता ही गया था। उस गोलाई की रफ्तार अधि तेज थी—वह उसके हाथ कभी नहीं आ सकी थी। अब जब आयी थी, तो. . .मान-अपमान क्या होता है ? क्यों इसके चक्कर में पड़ा जाये ?

पर बात केवल मान-अपमान तक थोड़े ही थी ? अपनी नौकरी के तीसरे दिन वह आधी डिबिया कॉफी और एक बुश्शर्ट के साथ घर पहुंचा था।

मां ने पूछा था, "कॉफी की डिबिया अधखाली काहे ?"

"टूरिस्टों की बची हुई चीजें हमारी हो जाती हैं।"

"ना बेटे, लोगों की छोड़ी हुई चीजों का उपयोग हम न करेंगे।"

पहले तो महेश्वर ने समझा कि मां उस चीज को जूठा समझ रही हैं, पर बाद में उसे बात कुछ अधिक गंभीर प्रतीत हुई जब रतन ने भी बुश्शर्ट को पहनने से इंकार कर दिया। रतन को उस बुश्शर्ट से पाइप के तंबाकू की गंध आ रही थी, जब कि महेश्वर को वह गंध एक ऐसी गंध लगी थी जो लाख धुलने पर भी मिट नहीं सकती।

मान-अपमान से अधिक नुकीली थी एक बात। और वह था अंतर ! वह अंतर, जो हर जगह था। उसने उसे अपने पड़ोस में देखा था। गांव में देखा था। यहां होटल में भी देख रहा था। अंतर ही के कारण उसे होटल में वह बेहतर काम नहीं मिला था, जिसके लिए उसने इंटरव्यू दिया था। वह उस अंतर को उस समय नहीं समझ पाया था, जो उसके तथा मार्सल के बीच था। जोजफ और उसके बीच, उसके और एंटनी के बीच। वह ज्ञान, कद और योग्यता का अंतर न होते हुए भी एक अंतर था। एक बहुत भारी अंतर। सुविधा का अंतर। अवसर का अंतर। समय का अंतर।

समय में भी अंतर होता है, तभी तो कभी छठी के प्रमाण-पत्र से आदमी जो

चाहें बन जाता है और आज सीनियर कैंब्रिज के प्रमाण-पत्र का कोई अर्थ नहीं है। पर नहीं, अर्थ तो होगा ही, क्योंकि कुछ लोग तो उससे भी घटिया प्रमाण-पत्रों के साथ बन बैठे थे, जो बनना था। शून्य का भी तो अर्थ होता है। ठीक वही अर्थ, आज परीक्षा के प्रमाण-पत्रों का भी होता है। शून्य अगर पांच के बाद आये, तो वह पचास हो जाता है और वही शून्य अगर पांच से पहले आ जाये, तो वह कुछ और ही हो जाता है। उसका अपना प्रमाण-पत्र भी उससे आगे था—उसे दशमलव बना गया था। उसकी अपनी संपूर्णता को वह भंग कर गया था। मन में आया था, उसे फाड़ डाले. . .पर हिम्मत नहीं हुई थी। कभी तो मोह हिम्मत से अधिक ताकतवर होता है। पता नहीं, होता है या नहीं, लेकिन उसके साथ हुआ था।

वह उस दिन भी हुआ था जब होटल के अधगोरे मैनेजर ने उससे कहा था, "तुम्हें रेस्तरां में नहीं भेज सकता। अगर तुमसे कमरों की सफाई नहीं हो सकती, तो तुम नौकरी छोड़कर जा सकते हो। नियुक्ति हमसे करवायी नहीं जाती, हम करते हैं।"

उस समय महेश्वर के हाथ में तौलिया था। मन में आया था कि उसे मैनेजर के मुंह पर फेंककर बाहर निकल जाये। पर उस समय भी हिम्मत से अधिक मोह ने उसे जकड़ लिया था। उसका हाथ हिम्मत से ऊपर को उठ तो गया था, पर तौलिये की जकड़ी हुई मुट्ठी खुल नहीं पायी थी। होटल के उस तौलिये के प्रति वह मोह ही तो था।

अपनी दोनों मुट्ठियों को कसे वह होटल के घिरे हुए इलाके से बाहर आकर समुद्र के किनारे-किनारे चलने लगा था। उसका कंधा अब भी तराजू था। उसकी तनख्वाह और बख्शीश वाली मुट्ठियां अब भी नीचे-ऊपर हो रही थीं। वजन का निर्णय नहीं हो पा रहा था। भीगी बालू पर पदचिह्नों को लहरों की वापसी तक के लिए छोड़ते हुए वह ऊपर को चढ़ गया। झावे के पेड़ों के बीच की हरी घास पर बैठकर उसने चाहा कि घर पहुंचने से पहले निर्णय हो जाना चाहिए। उसे बख्शीश के पैसे से क्या करना है? पर क्या बख्शीश से सचमुच उसे घृणा हैं? अगर ऐसा ही होता तो फिर रेस्तरां में काम के लिए क्यों गिड़गिड़ाना पड़ा था? क्या इसीलिए नहीं कि उसने सुन रखा था कि रेस्तरां के ग्राहकों से जो टिप्स मिलती हैं, वे महीने की तनख्वाह से दोगुनी-चौगुनी होती हैं। फिर वही मोह तो नहीं था?

टिप्स ही से अगर उसे घृणा थी, तो महीने-भर की टिप्स को वह डिबिया में संजोकर क्यों रखे आ रहा था? और फिर उस दिन उसे निराशा क्यों हुई थी, जब स्काटलैंड का वह रईस ग्राहक होटल छोड़ते हुए उसे कुछ भी नहीं दे गया था?

हर हालत में बख्शीश पैसा है और पैसे के प्रति मोह का न होना कम हैरत की बात नहीं है। तो फिर यह द्वंद्व कैसा ? यह कशमकश—यह कुछ न तय कर पाने वाली स्थिति !

एक हाथ में पूरे महीने की तनख्वाह···दस के उनतीस लाल नोट ! दूसरे हाथ में मटियाले रंग का लिफाफा, मॉरिशसीय सिक्के और नोट भिन्न-भिन्न ! वह गिनकर देख चुका था। तनख्वाह की रकम से एक सौ सात रुपये पंद्रह सेंट कम···फिर भी उसे लगा था कि यह रकम ज्यादा है, तनख्वाह से भारी है। वह लिफाफा काफी बड़ा था। उसपर दक्षिण अफ्रीका के डाक टिकट और मुहर लगी हुई थी। लिफाफे के ऊपर लाल अक्षरों में लिखा था—प्राइवेट ऐंड कान्फि-डेंशल ! शुरू से महेश्वर ने चाहा था कि अपनी तनख्वाह की राशि को एकसाथ लिफाफे में डाल दे। इस बार सवाल मोह का न होकर हिम्मत ही का रहा। हिम्मत नहीं हुई। तनख्वाह को प्राइवेट ऐंड कान्फिडेंशल बनाने की हिम्मत उसे नहीं हुई। उसकी तनख्वाह उसके पसीने की कीमत थी। वह कोई चोरी की चीज नहीं थी जिसे रहस्य बनाने की जरूरत थी। वह उसकी पहली कमाई थी—इश्त-हार की चीज थी—डंके की चोट चिल्लाकर बताने की चीज थी। उसका अपना कोई रिश्तेदार ही तो था, वह धनी दुकानदार, जिसने उसकी मां की गिड़गिड़ा-हट के उत्तर में कह दिया था, "तुम्हारे बेटे के हाथ-पांव अच्छे हैं—जरूरी नहीं कि किसी दुकान ही में उसे नौकरी मिले—वह तो जहां से चाहे, दस-बीस रोजाना उठा सकता है।"

महेश्वर की मुट्ठी में उस दुकानदार के व्यंग्य का उत्तर था। वह लिफाफे में बंद रखने की चीज नहीं थी। गर्व के साथ बताने की चीज थी।

"हां-हां···मेरा बेटा जहां से चाहे, दस-बीस रोजाना उठा सकता है। वह मेहनत कर सकता है और मेहनत का फल पा भी सकता है।"

लेकिन उसकी दूसरी मुट्ठी का वह लिफाफा ? उसमें तो मेहनत का नहीं, दया का फल था। पर उसी तरह की दया का, जिस तरह की दया के लिए उसकी मां सभी जाने-माने बड़े लोगों के दरवाजे की खाक छानती रही थी, ताकि उसके बेटे को परिश्रम का अवसर मिल सके ! महेश्वर इस बात से खुश था कि उसे जो नौकरी मिली थी, वह उसकी मां की गिड़गिड़ाहट के फल के रूप में नहीं मिली थी। वह फल दया का नहीं था, इसलिए जैसा भी था, उसे प्यारा था। वह उसकी अपनी इज्जत का तकाजा था।

नौकरी के पहले ही दिन होटल के मैनेजर ने उसे अपने दफ्तर में बुलवा लिया था, "कल से इज्जत के साथ नौकरी पर आया करो। इस तरह के लंबे बाल यहां नहीं चलेंगे।"

उसे हर ठौर पर हर शब्द की नयी परिभाषा मिलती आ रही थी। इज्जत

शब्द की नयी परिभाषा भी थी। दूसरे दिन बालों को कटवाकर इज्जत के साथ काम पर पहुंचा था। वहां इसी इज्जत के लिए उसे मैनेजर के सामने एक बार और जाना पड़ा था। मैनेजर ने कहा था—तीसरी बार की नौबत आयी और वह नौकरी से बाहर। उस स्वर में जो धमकी थी, वह उसे कंपा गयी थी। मैनेजर के कमरे से बाहर आकर वह दांत पीसता हुआ सोच उठा था—'नौकरी ! साली, यह कौन-सी ऐसी चीज है जिसके लिए आदमी को इतना सारा कुछ भुगतना पड़ जाता है ! उसकी प्राप्ति से पहले जो दशा होती है, वह तो होती ही है, उसके बाद भी वह आदमी को चैन नहीं दे पाती।'

पिछले सप्ताह जब उसे मैनेजर के सामने जाना पड़ा था, उस समय उसपर यह अभियोग था कि उसने होटल की बेइज्जती की थी। होटल में भोजपुरी में बोलना मना था। होटल की प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए फ्रेंच और क्रिओली के इस्तेमाल पर जोर दिया जाता था। फ्रेंच इसलिए कि वह सभ्य भाषा थी और क्रिओली इसलिए कि वह लोकभाषा थी। होटल के ग्राहक सभ्य लोग हुआ करते हैं, जिन्हें दूसरे देशों के लोक-जीवन से दिलचस्पी होती है। यही वजह तो थी कि क्रिओली का एक भी शब्द न समझते हुए सभी सैलानी क्रिओली सेगा पर झूम उठते थे। यह भी महेश्वर के लिए शब्दों की नयी परिभाषा थी। लोकशब्द की नयी परिभाषा। भाषाशब्द की नयी परिभाषा। वह जिस प्रश्न को दूसरे के सामने नहीं रख सकता था, उसे अपने-आपसे पूछता था।

भोजपुरी बोलने में क्या बुराई है ? क्रिओली की तरह भोजपुरी भी एक बोली है। क्रिओली बोलने में इज्जत और भोजपुरी बोलने से बेइज्जती क्यों ? सिर्फ इसलिए कि वह खेतों और गांवों की भाषा है ? यह होटल जिस स्थान पर बना है, वहां की मिट्टी भोजपुरी से ही तो बनी हुई है। भोजपुरी का ही तो वह टुकड़ा है जिसे वहां के लोगों से छीनकर विदेशी कंपनी को दे दिया गया था। गांव के लोग उस तट पर गंगास्नान मनाते थे। गाय-बकरियों के लिए घास पाते थे. . . अब उधर से होकर जाना भी मना है। जमीन के टुकड़े के साथ समुद्र भी खरीद लिया गया है। और अब तो संस्कृति और भाषा भी उसके साथ गिरवीं हैं।

कुछ लोग कहते हैं, इससे देश को लाभ होगा। सैलानी आयेंगे, बहुत सारे पैसे छोड़ जायेंगे। सैलानी आते हैं। पैसे भी छोड़ जाते हैं। पर किसके लिए ? विदेशी कंपनी के लिए ? गांव के लोगों को नौकरी मिलेगी। जीविका मिलेगी। जीविका का इतना बड़ा मूल्य ? आदमी अपने लोगों से अपनी बोली न बोल सके ! पिछले दिनों अफ्रीकी देशों का बहुत बड़ा सम्मेलन हुआ था इस देश में। एक वाक्य, जो बार-बार सुनने को मिला था, वह था—'हमें मानसिक स्तर की गुलामी से सावधान रहना है ! कहीं यह वही चीज तो नहीं है ?'

महेश्वर कभी भी सामने की समस्या पर बिना किसी हस्तक्षेप के अच्छी तरह सोच ही नहीं पाता—बीच-बीच में दूसरी बातें. . .दूसरी समस्या आ जाती है। वह कहां तनख्वाह और बख्शीश की समस्या को निबटाने की कोशिश कर रहा था और कहां बड़ी-बड़ी बातों के चक्कर में फंस गया। लेकिन. . .! उसे झटका-सा लगा। प्रतीत हुआ, यह बख्शीश वाली बात भी कहीं मानसिक स्तर की गुलामी तो नहीं ?

फिर वही बड़ी-बड़ी बातें। उसने अपने सिर को इस तरह झकझोरा, गोया ये बड़ी-बड़ी बातें ऊपर ही कहीं चिपकी हुई हों और ऐसा करके वह बड़ी आसानी से उन्हें अपने खयाल से हटा सकता हो। उसने समुद्र की ओर देखा। वहां का नीलापन विविधता लिये हुए था। उसपर तैरती हुई धूपीली तरंगें, दूर प्रवाल-रेखा के पास ज्वार-भाटों की लंबी कतार अपने फेनिल दूधियापन को बिखेरती हुई। ज्वार-भाटें से टकराते ज्वार-भाटों का गंभीर नाद और उसके साथ ही दहाड़ती हुई मोटरबोट और पीछे पानी को चीरती हुई लड़की। वॉटर स्कीइंग महेश्वर को रोमांचित कर जाता है। उसके लिए उसके भीतर ललक थी, पर वह उसकी पहुंच के बाहर की चीज थी। वह भी उन कई चीजों में थी जो सिर्फ देखने के लिए होती हैं, छूने के लिए नहीं।

नहीं, छूने के लिए तो शारा नहीं भी थी। वही शारा, जो कॉलेज के दिनों में किसी लडके को अपने पास फटकने नहीं देती थी। महेश्वर का दोस्त राघव भी, जिसे सभी डॉन जुआन कहते और जो लड़कियों को छेड़ने में माहिर था, शारा से कभी बात तक नहीं कर पाया था; छने की बात तो दूर रही। लेकिन वही लड़की जो छूने के लिए नहीं थी, होटल में पर्यटकों के मनोरंजन का साधन बन सकती थी, इसका खयाल तो महेश्वर को सपनों में भी नहीं था। पर उस दिन महेश्वर को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ था, जब मित्रों के बीच शारा की चर्चा शुरू हो गयी थी :

"हम लोग तो आज भी उसे नहीं छू सकते।"

"पर यह तो अजीब बात हुई।"

"अजीब क्यों ?"

"अरे, जब वह सेगा नाचती फिरती है और मर्दों से कमाती है, तो फिर क्या कारण है कि हम उसे नहीं छू सकते ?"

"वह तीन-चार रुपये वाली नहीं है।"

"यह तो हम भी जानते हैं। भाव लगाने वाले तो आखिर हम ही होते हैं। वह तीन-चार की थोड़े ही हो सकती है ?"

"तुम लोग बात नहीं समझ रहे हो। सही बात तो यह है कि शारा अब अपनी

मां के साथ नहीं रहती।"

"यह तो और भी अच्छा है।"

"वह मणिलाल महतो के घर में कमरा लेकर रहती है।"

"बस, इसीलिए हम उसे छू नहीं सकते ?"

"इसलिए नहीं छू सकते, क्योंकि वह केवल विदेशी सैलानियों से कमाती है। हमें वह पूछेगी नहीं।"

और उस दिन महेश्वर को अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ था जब उसने लाल बिकिनी में शारा को एक टूरिस्ट की बांहों में पाया था। शारा ने महेश्वर को देखा था और कॉलेज के दिनों से भिन्न मुद्रा में मुस्करा दी थी। इसके बाद महेश्वर ने जब भी शारा को देखा, उससे हर बार वही स्टीरियो टाइप मुस्कान पाता रहा। अभी कल की बात है, शारा उसी कमरे में थी जिसकी सफाई के लिए महेश्वर भीतर पहुंचा था। कमरे में रहने वाला टॉयलट में था। शारा सोफे पर लेटी हुई बीयर की चुस्की ले रही थी। महेश्वर को देखते ही बोल उठी थी, "हैलो महेश्वर, कैसे हो ?"

उसका नाम आज भी उसे याद था, इससे महेश्वर को हैरानी नहीं हुई थी। महेश्वर उसे दस से अधिक चिट्ठियां लिख चुका था। उत्तर एक का भी नहीं मिला था। दूसरी बार उसने कुछ अधिक हंसकर पूछा, "कैसे हो महेश ?"

"अच्छा।"

"तुम्हें कोई दूसरी नौकरी नहीं मिली ? तुम्हारे पास तो सीनियर कैंब्रिज है न ?"

महेश्वर चुपचाप काम में लग गया था।

"तुम्हारी चिट्ठियों के कुछ वाक्य मुझे याद हैं। उनमें से दो चिट्ठी तो आज भी मेरे पास हैं। अगर कभी मेरे घर आओ तो तुम्हें दिखा सकती हूं। जानते हो मैं कहां रहती हूं ? अब मैं अपनी मां के यहां नहीं रहती..."

यह अभी कल की बात थी।

आज सुबह भी शारा उसे मिली थी।

इधर दो-तीन दिनों की इस मुलाकात ने महेश्वर में सात साल पहले के उन तीन महीनों को फिर से सजीव कर दिया था—वे तीन महीने, जब महेश्वर को शारा के सिवाय कुछ और सूझता ही नहीं था। उस समय उसकी स्थिति तो बेसुधीपन की थी, पर मां की नजरों में वह आधा रह गया था। उस समय की वह कमजोरी, जो उसे उस समय महसूस नहीं हुई थी, अब एकाएक महसूस होने लगी थी।

पिछली रात अपनी चारपाई पर नींद के लिए संघर्ष करता हुआ वह अंधेरे में सपना बुनता रहा था।

"शारा ! कॉलेज के दिनों में तुम उतनी भिन्न क्यों थीं ?"

"उस रूप में मैं तुम्हें बहुत अच्छी लगती थी न ?"

"उस समय की तुम्हारी वह चुप्पी जो मुझे खलने लगी थी, अब अच्छी लग रही है।"

"आज तुम्हें कैसी लगती हूं ?"

"आखिर इतने सारे रास्ते थे, तुमने इसे क्यों अपनाया ?"

"क्यों, यह रास्ता भी तो रोटी और कपड़ों की दुकान पर ही पहुंचता है ?"

"दो कदम आगे खाई मिलेगी। बहुत बड़ी खाई।"

"कौन परवाह करता है उसकी ?"

"तुम इससे बाहर क्यों नहीं आ जातीं ?"

"क्यों ?"

"मैं तुम्हें वहां से बाहर देखना चाहता हूं।"

"तुम्हें मेरी हंसी से अधिक मेरा सिसकना अच्छा लगता है क्या ?"

बीच ही में महेश्वर का सपना टूट गया था।

वह उठ खड़ा हुआ। दाहिने हाथ में उसकी तनख्वाह थी। उसने उसे अपनी जेब में रख लिया। बायें हाथ में लिफाफा था। वह घर की ओर चल पड़ा। रास्ते में उसके अपने घर से पहले शारा का घर पड़ता था। शारा अभी होटल नहीं पहुंची थी। वह कहीं और नहीं गई होगी तो घर पर मिल सकती है।

और अगर शारा ने यह कह दिया कि. . .देखो महेश, मेरा जीवन मेरा अपना है। यह जरूरी नहीं कि जो तुम्हारे लिए अपवित्र हो, वह मेरे लिए भी वैसा ही हो। तुम भूरे रंग की कमीज बहुत अधिक पसंद करते हो न, पर मैं तुम्हें कहूं कि इस रंग के कपड़े से मुझे उलटी होने लगती है।

महेश्वर को हंसी आ गयी। वह इस उद्देश्य से उसके यहां थोड़े ही जा रहा था। हां, यह सही था कि अगर शारा उसकी बात मान जाती है तो महेश्वर को खुशी होगी, क्योंकि शारा के बारे में जो बात होती थी, उससे अगर किसीको दुख होता था, तो वह महेश्वर ही था।

मणिलाल महतो का यह घर एक संकरी गली में था, जिसमें कुल मिलाकर तीन घर थे, वे भी लंबे फासले पर। मणिलाल के इस घर में जो दो दूसरे किराये-दार थे, वे शहर के थे। यहां होटल ही में काम करने के कारण उन्होंने कमरे ले रखे थे। इसलिए घर के पास पहुंचते हुए महेश्वर के भीतर किसी तरह की शंका या झिझक की भावना नहीं थी। शारा के कमरे को वह बहुत अच्छी तरह जानता था। उसने दाहिने हाथ से दरवाजा खटखटाया, क्योंकि उसके बायें हाथ में अब भी वह लिफाफा था। दरवाजा तुरंत खुला। शारा की आंखों में हैरत थी।

"महेश, तुम !"

"मैं भीतर आ सकता हूं ?"

भीतर पहुंचकर महेश्वर ने कहा, "दरवाजा बंद कर लो।"

"क्यों ? तुम्हें ठंड लग रही है या डर ?"

"तुम्हें बंद करते हुए डर लग रहा है क्या ?"

"ठीक है, बंद कर लेती हूं. . ."

दरवाजा बंद करके उसने महेश्वर की ओर देखा। तब तक महेश्वर कमरे की एकमात्र कुर्सी पर बैठ गया था।

"तुम जानते हो महेश, मैं घर के बाहर काम करती हूं, घर के भीतर नहीं।"

"मणिलाल महतो कल तुम्हें घर से बाहर कर देंगे क्या ?"

"यह मेरे अपने उसूल की बात है।"

"वह है तुम्हारे पास, यह जानकर खुशी हुई।"

तब तक शारा पास की चारपाई पर बैठ गयी थी।

"मैं एक बात कहना चाहती हूं, महेश ! न जाने तुम विश्वास करोगे या नहीं।"

"समय ने मुझे बहुत-सी अविश्वसनीय चीजों पर विश्वास करना सिखा दिया है।"

"छोड़ो उस बात को। तुम्हारा इधर भटकना कैसे हो गया ?"

"मैं यह नहीं मानता कि ग्राहक दुकान की ओर भटककर पहुंचता है।"

"तो फिर ?"

"उसका तो उद्देश्य ही वहां पहुंचना होता है।"

"और वस्तु की खरीदारी ?"

"शारा, तुम्हारा मूल्य क्या है !"

"वह तो ग्राहकों के लिए होता है, जो कि बहुत कुछ उन्हींपर निर्भर करता है।"

"मैं तुम्हारे ग्राहक के रूप में हूं यहां।"

"तुम मेरा क्या मूल्य लगाते हो ?"

"यह मेरा पहला सौदा है।"

"विश्वास नहीं होता।"

"मुझे भी विश्वास नहीं हुआ था।"

"क्या ?"

"पहली बार तुम्हारे बारे में सुनकर। खैर, बोलो, तुम्हारा मूल्य. . .?"

"तुम वह पहला ग्राहक सही, जिसके सामने अपना कोई भी मूल्य नहीं।"

"तुम तो रूमानियत पर उतर आयीं।"

"सचमुच, मुझे हैरत हो रही है।"

"मेरे यहां होने पर ?"

"हां।"

"जानती हो शारा, मेरी एक धारणा रही है कि हर चीज छूने के लिए नहीं होती।"

"जैसे कि ?"

"जैसे कि आसमान के तारे, एक अमीर की अमीरी, एक. . .तुम्हारे बारे में भी मैंने हमेशा यही सोचा था।"

'कि मैं छूने के लिए नहीं !"

"हां, आज अपनी उस धारणा को बदलने आया हूं।"

"इसलिए कि आसमान का तारा तुम्हें जमीन पर धूल में लोटता नजर आ गया ?"

"तुम गलत समझ गयीं।"

उसने अपने हाथ के लिफाफे को शारा की ओर बढ़ा दिया।

"यह क्या है ?"

'कीमत।"

महेश्वर के घर पहुंचते-पहुंचते चारो ओर अंधेरा छा गया था। उसकी मां को बहुत कम दिखाई पड़ता था—उसे इस बात की चिंता हुई, पता नहीं, मां को मेरे चेहरे पर छायी खुशी की झलक मिलेगी या नहीं।

आवाज की अरथी

आलमशाह खान

सूरज ढले छग्गी पोखर टोले पहुंची थी। धनुष की ढब मुड़ी बांस की खपच्चियों पर सधी अपनी झुग्गी के सामने; कंधे पर झूलते तार के छींके-पिंजरे पटककर उसने हाथ झटक दिया। फिर ओछे हाथ को पूरे हाथ से सहलाकर सामने देखा—नरसिंघा मरी चाल से बढ़ा आता था। उसके कंधे पर टिकी सोटी पर रबर के डोरे में बंधे तोता-मैना सटे हुए डोल रहे थे। उसे लगा, भोर को जितने तोता-मैना थे, उतने ही अब भी हैं। एक कड़ुवाहट उसके सूखे गले में उतर गयी।

पोखर की पुलिया पर बैठे फन्ने ने दोनों मां-बेटों को झुग्गी के सामने जो देखा तो लकड़ी के सहारे टांग उछालता उनके पास चला आया। थोडी देर चुपचाप रहा। छींके-पिंजरे और कागजी तोता-मैना के ढेर को देखकर उसने दोनों आंखें तरेरकर घूरा और बिना कुछ बोले झुग्गी के सिरे पर बिखरे अधबने खिलौनों को झल्लाकर एक तरफ करने लगा। फिर एकाएक सामने पड़े खिलौनों और छींके-पिंजरों को दोनों के सर पर मार गालियां बकने लगा।

"अब और पिंजरे-खिलौने बनाकर तुम दोनों के बापों को उसमें धरूं-बहलाऊं ?"

"अरे ! कुल्लाय क्यूं है, इन छींके-पिंजरों पर कोई

हाथ न धरे तो मैं क्या करूं ? किसीके गले बांध दूं इन्हें ?"

"तू न बंध जा किसीके गले ? इधर को गला फाड़ती, बस्ती-बाजार में बोल नी फूटता के ले लो छींका-पिंजरा !..."

"अरे दिन-भर बोला...गला फाड़ा पर कोई आंख न उठी। एक बाबू ने देखा; बोला, 'घरवाली पसन्द करे तो ले डालूं...'घर तक ले गया, पर घरवाली थी कहां ? लंडूरा था। मुझे ही बुलाने लगा घर में।"

"फिर ?"

"फिर क्या, थूककर पलट आयी।"

"वा रे सती ! सावतरी ! थोड़ी पसर लेती तो कौन रूप ढल जाता ?"

"मरद है कि सूकर ?...लाज कर।"

"ओ लजवंती ! जो सोयी नहीं आज तक इधर-उधर ?"

"मूंडकटे ! मर ! तेरे जैसे मरभूखे मेरे बाप ने ही इधर-उधर किया मुझे। बस, अपने मन से तो मूता भी नी तेरे मूं में।"

"पूतनी है। सिकल देखी पोखर में ? चमड़मढ़ी ठट्ठर, बजाओ तो ढब-ढब...बने हैं रसीली...खुसक पोखरी, बिछी जरूर होगी वहां; ऐंठा होगा कुछ, यहां चलित्तर दिखा रही। दिखा अंटी।"

"ले देख अपनी मां-भेण का," कहते हुए उसने दो हाथ का लीतरा ही नहीं, फटियल चोली तक उतार फेंकी। भन्नाती हुई बोली, "और दिखाऊं तेरे को तेरी जनम-जगा ?"

"अरी ! परा समेट रूप अपना। बालक देखेंगे तो खौफा जायेंगे। कोई मरद जो देखेगा तो मरदानगी मर जायेगी उसकी।"

"तू तो मरदुआ नहीं ? मेरे को देख, मेरा मरद तो मर ही गया। खोदी है, जो खोदेगा नहर। भोथरा भुट्टा मरद बने हैं।"

"री मां ! खों-खों ही करेगी या खाने का जुगाड़ भी बैठायेगी ? भूख लगी है।" नरसिघा चुप दोनों की बतभेड़ देख रहा था; अब बोला।

"ले खिला खसम को अपना मूंड।"

"खसम होगा तेरी भेण का, मेरा तो बेट्टा है।"

"बता, अपने बाप की मां के खसम ! कित्ता लाया ? तोता-मैना तो जं ही बैठे हैं तेरी मां की मुंडेर पे," फन्ने ने नरसिघा से पूछा।

"बप्पा ! अब तो इन कागज के तोता-मैना को कोई ना पूछे। पिलास्टिक के खिलौने ला दे, वो बेच लूंगा।" उसने खीसे झाड़कर कुछ सिक्के सामने धर दिये।

"मर साले, पिलास्टिक गयी तेरी मां की पोपली पेंदी में," उसने तोते गिनते हुए कहा, "अरे ! जे तो आठ हैं, मैना पंदरा और गुलदस्ते तो जो के जो हैं। पैसे

कित्ते हैं। नब्बे, कुल ? मा-खोर ! बीस में से आठ बचे। बारा तोतों के एक बीस तो जे ही हुए और मैना के पचास अलग; कुल एक सित्तर का बेचा हुआ। दे, बाकी किधर को ?"

"पचास की पोस्त और. . .।"

"और क्या, बाकी मां के यार को चटा दिये ? दूं एक झाप, बता ?"

"एक 'चा' और पांच की मूंगफली।"

"कंजर कूं हज़ार बार बोला, दो का बिकरा हो तो 'चा' पिया कर।" फन्ने ने तन्नाकर एक थप्पड़ नरसिंघा को जमा दिया।

"कसाई क्यूं मारे है ? दिन-भर भूखा डोला, एक चा पी ली तो कौन तेरी कुंआरी भेण का दूध पी गया ?"

"आये छिनलिया ! चुप कर; इसने अपनी ही कुंवारी मां का दूध पिया है, नी तो. . .बारा बजे से, तेरा बाप बाबू लोगों के कैंटिन के पास डोलता रहा। झूठन-फेंकन से पेट भरा. . .सांझ को फिर आ गया ठूंसने। मेरी झुग्गी में अब तुम दोनूं के लिए कोई ठौर नहीं। मरो पल्ले कोने में।" फन्ने ने बीड़ी सुलगायी और धौंकने लगा। रुककर बोला, "अब आना बेट्टे पोस्त पीने !"

"मैंने हज़ार टेम बोला तेरे कूं, इस लौंडे को पोस्त की लत्त मत डाल।. . ." छग्गी उफनकर बोली।

"पोस्त की लत्त न हो तो, बेट्टा कल ही भाग खड़ा होगा। इसीसे बंधा हैगा।"

"ओ नीच ! तो जूं पाल रखा है मेरे नरसिंघे को ?"

"नी, तो तेरे रूप पे रीझा था ? इसी खूंटे के बल तेरे को गले बांधा था, नी तो तू है कौन ? समझ ले अब इसी लौंडे-लीतरे पर चलेगी तेरी रोटी।"

तीनों के बीच चुप्पी तनी रही। थोड़ी देर बाद छग्गी ने आगे हाथ बढ़ा फन्ने के मुंह से बीड़ी झपट ली और सुट्टे लगाती हुई बोली, "ले, ये डेढ़ और ले आ अद्धा।" उसने चोली के गुमड़ में से गांठ निकाली।

"कब से सहेज रखे हैं ?" फन्ने के गुंजल चेहरे पर तनाव रुका और बिला गया। बोला, "तो ले लौंडे, पोस्त तोड़ और भिगो, आया मैं।" और वह लकड़ी के सहारे लंगड़ी टांग उचकाता उठ खड़ा हुआ।

सूखे-भीगे, झाड़-झक्खड़-भरे, तपते-ठिठुरते बरसते-रिसते उनके दिन और रात वहीं पोखर के आजू-बाजू पड़ी खुली जगह में तनी खोलियों में खपते थे। वहीं बच्चे जनमते,किलकिलाते, बिलबिलाते, बढ़ते और किसीको अपने बेहाल-बेघर होने का गुमान तक न होता। पर इस बार पूस ठंडी आग बखेरता आया। ठंडी के साथ बेधने वाली बयार उनके कंकाल को खंगाल गयी। बूढ़े कपकपाने

लगे। टाब्रर दांत किटकिटाते, बड़े मोटियार झुरझुरी नहीं झेल सके और नन्हे तो लंबे ही हो गये।

वैसे अनोखा-अनभोगा कुछ भी नहीं था। ऐसे मौसम पहले भी आये थे और ठसक बता बीत गये थे। पर इधर जब से रैन-बसेरों की बात पोखर टोले में चली, तभी से सब एक ठौर जुड़े थे और रातें उधर ही रैन-बसेरा में काटने की ठानी थी।

रैन-बसेरे में आज पहली ही रात काटकर टोले के भाइले-भाइयों और मां-भैणों ने आंखें खोली थीं। बसेरे के फेराव में उन्हें अजीब-सा लगा, जैसे दूजे देस नहीं, दूजे लोक आ गये हों।

पेटी में बंद मुर्गे की बांग के साथ ही टोले में तू-तू मैं-मैं, रोना-पीटना मच जाता था। यही उनके जीने-जागने की पहचान थी। आदमी लुगाई के झोंटे नोंचते, लुगाई मरद की मूंछ उखाड़ लेती और फिर एक-दूसरे की आसकी-मासकी बखानी जाती।

"तू तेरे भेण के मरद के साथ सोयी।"

"तूने तेरी भौजी संग मूं काला किया।"

"तू चोर।"

"तू छिनाल।"

"तेरा बाप धाड़वी।"

"तेरी मां के चलित्तर देखे।"

"ये मेरा मूत नी। तेरे भाई का तुखम।"

"ऐ, लाज मर, मैं नी बोल दूं, तेरा मूत तेरी भेण की कोख।"

"ओ चंडिये।"

"ओ रंडुए।"

"खसमखानी, आदमखोर।"

"लुगाई का रज पी ले, नीच।"

पोखर टोले में यही सब चलता। फिर सांझ को जुटाये फूस-फाचर, कागज-कूड़ा, टहनी-ठूंठे धधकते, बीड़ियां सुलगतीं। रात के भीगे पोस्त के छिलके आग पर धरे काले-कठियाये डिब्बे में खौलते, खुदबुदाते, फिर चीकट धोती के छोर से छन-छानकर टूटे हैंडिल के मगों में ढल जाते। पोस्त की गंधियाई भाप में वे एक-दूसरे का मुंह जोहते और कभी चहक और कभी अनबोले बोल के साथ उसे अपने सूखे गले की घाटी में उड़ेल लेते। आकाश की लाली टूटकर जब उनके आंखों के डोरों में बस जाती तो वे पोखर-पुलिया से सूरज का चढ़ना देखते। बूढ़े-बड़े

मोटियार नारले पर खड़े चायवाले सिंधी के खोखे के आगे जा बैठते। फिर बोल के गोल फूटते, फिर झंझट-झगड़ होता। हाथापाई तक की नौबत आ जाती। किसीको अजब नहीं लगता। सब जानते थे, यह रोज होता है। लोग देखकर भी अनदेखे निकल जाते। चाय की सुड़क के साथ फिर खों-खों होती, फिर दांतों में बीड़ियां दबा टोली बिखर जाती, रोजी-रुजगार के लिए। किसीके कंधे पर टीन के कनस्तर पीटने, ठीक करने के औजारों की पेटी झूलती, किसीके सर पर चीनी-कांच के बरतन और फटे जूने-कपड़े होते। कोई कागज-गत्ते के खिलौने लिये होता। दिन में कभी-कभार मिलना होता, साझ पड़े फिर जुड़ते. . .फिर जिंदगी बजने लगती।

"तू पी आया कमाई, तेरा चांचर रांधू ?"

"तू खा आयी कबाब-कचालू, अब खा गू-गोबर।"

"मूंडकटी मां को बीड़ी-चा चटानी थी तो उसीके संग सोता, रांड क्यूं लगायी गले ?"

"बाप-बूढ़ल के मूं में दारू क्यों मूता ? जा उसीसे अपनी टांग गरमा।"

"मूत हरामी का दूध मेरा," बोल के साथ कोई मां चिथयायी छाती ठूंस बच्चे को धबक देती।

रात के बसियार गले में, भोर-किरन के पथराये जाने पर भी जब पोस्त-रस न उतरा तो रैन-बसेरे में ही बकझक की झड़ी लग गयी। आज वे सरकार और नेताओं के मां-बापों को बखान रहे थे। उनसे रिश्ता-नाता जोड़कर चिल्ला रहे थे, "बस एक टटरा गोडाम-सा खोल दिया और बकरों-बैलों की जूं भर दिया सबको। चा-पानी कुछ भी नहीं।"

कोई नौ बजे प्रबंधक जी आये तो कुहराम मचा था। गंदगी अलग। सब देख-सुनकर उन्होंने माथा पीट लिया और पोखर टोले वालों को निकाल बाहर किया। वे बकझक करते, गालियां उछालते रैन बसेरे से बाहर आ गये।

सांझ घिरे पोखर टोले ने आज फिर सांस ली। उखड़े बांस-खपच्चियां फिर खड़े हुए थे और टीन-टाट ने तनकर बित्ते-भर जमीन को आकाश की छांव से काट दिया था। दस-बीस झुग्गियां फिर उभर आयी थीं। जैसे-तैसे पहर बिलमाये भोर हुए, फिर जुगत जुड़ी। और दिनों की चलते आज चिल्ल-पों कम थी। बीड़ी के सुट्टों से खोलियों में धुआं अटा जा रहा था।

"खेल-खिलौने कोई लेवे नी, छींके, पिंजरों के दिन गये। अब जूं कैसे चलेगा ?" छग्गी ने अपनी छठी अंगुली चटकाते हुए कहा। "अपना तो टेम टल गया, नरसिंघा बिन खाये नहीं रेणे का।"

"तू करे ना कोई जुगाड़ ? तेरे तो बीस ऊपर एक उंगली है।"

"जासती उंगली दीख रही है। भगवान ने जो दो की ठौर डेढ़ ही दिया वो दीदे में नी आता।" उसने अपने ठूंठे से हाथ को नचाकर कहा।

"किचकिचाने का टेम नी। छोकरे को मना ले, सब फिर चल जायेगा।"

"छोकरे को क्या करना बोल ?" उसने गूदड़ी में पड़े नरसिंघा के धूसर बालों में अंगुलियों से कंघी करते हुए पूछा।

"इसे करना कुछ नी. . .बस बजरंग बली बनना है।"

"बजरंगबली. . .हनुमान ?"

"ऐसे पूछ री है जूं हिंदू नी, तुरक हो।"

"बोल भी करायेगा क्या उससे ?"

"कुछ नी बस. . .उसकी देह एक लाल लंगोट धार देंगे. . .सिंदूर से बदन पोत देणा है, फिर मूं में रामगोला ठूंस के बाल धोने की मिट्टी से लीप, पीछे बानर-पूंछ खोंस, खप्पर थमा उसे सहरी-बसती में डोला देंगे। कुछ तो धरम लोगों में है, दान-दच्छिना मिल ही जायेगी।"

"इसके मूं में रामगोला ठूंसेगा ? ऊपर मिट्टी पोतेगा ? मेरे बछड़े का दम नहीं घुट जायेगा ?"

"तेरा जना, दूधमुहा कुंवर कन्हैया जू नी, दस ऊपर दो का धींग है—उसकी जवानी नाक-कांख के नीचे फूट रही, समझेगी नी और बकबक लगा देगी। सुन, इसे थोड़ा नाक से सांस लेने की आदत बनानी पड़ेगी। दो-एक दिन यहीं रबत डाल देंगे। आज से ही ले।"

"ये क्या करतब हुआ भला पेट पालने का ? मेरे बेट्टे की सांस में नी बंद करने की।"

"यूं तो सांस बंद नी होगी। खाने को जो नी मिलेगा तो उसकी तो क्या तेरी भी बंद हो जायेगी। पोस्त का पानी जो गले नी उतरा तो बैठा नी होन मरा पड़ा रहेगा। उधर उसकी महतारी का मूतना-हगणा रुक जायेगा।"

"और तू कौन पहाड़ चढ़ आयेगा, तेरी आंख नी उघड़ने की। मेरी कोख फटी है न. . .अपना तुखम होता तो लगता।"

"अरे ! मेरा तुखम होता तो कौन राज करता ? इधर-उधर मोटे-मानुस की सेवा-टहल में खुटता, मिमियाता डोलता, या तेरी-मेरी तरज पर भूखों मरता। मरता. . .तू नी चाहे तो मुझे क्या पड़ी ? मैं फिर छींके-पिंजरे गढ़-गांठ दूंगा, रद्दी कागद-गत्ते के फिर मोर-चिड़िया बना दूंगा।लिये डोलना उन्हें, उड़ाने-बेचने को. . .तू जाणे अपनी तो डेढ़ टांग है, उसे लेकर लंगड़ाता-लठियाता चल-भर सकूं हूं।" इतना बोल फन्ने ने पास बिखरे 'मजबूत इरादा', 'कड़ी मेहनत', 'पक्का अनुशासन' वाले पोस्टरों को सहेज लिया और खिलौनों के लिए कतर-ब्योंत करने लगा।

"जय बजरंग बली, तोड़ दुश्मन की नली !" के ऊंचे बैन के साथ नरसिंघा को हनुमान का रूप धरा फन्ने ने जब झुग्गी के बाहर किया तो टोले वाले हंसते-खिलखिलाते अचरज-अचंभा करने लगे।

"अरे ओ फन्ने ! जे मानुसजात को बानर क्यूं बना दिया रे ?" तगड़े हूंरे ने डटियाते हुए पूछा।

"धौंकनी के ! जीभ जलेगी, बजरंगबली कूं बानर बोले। बोल जय हनुमान !" छग्गी ने साथ दिया तो पास खड़ी लुगाइयों ने भी दोहरा दिया।

"मां-बाप से मजूरी-मता नी होवे. . .छोरे के मूं में गोला ठूंस दिया। दमघुट मर गिया तो ?"

"अरे बिचार भी, परबत उठा लिया तो मरे नी, रामगोला मूं में रख लिया तो मर जायेंगे। फिर नाक-कान से राम-पौन जायेगा ही। वो भी नी तो राम-भगत कभी कोई मरा है ?"

"अधरम का नास हो !. . .बोलो, जै बजरंगबली की !"

इस बार कई बोल साथ उठे। छग्गी ने हाथ जोड़ हनुमान के चरणों में सीस नवाया तो पास खड़ी लुगाइयों के हाथ भी जुड़ गये। बूढ़े-बीमार बोल उठे—"रावन की लंका जारो, संकट टारो !"

फन्ने ने नरसिंघा के हाथ में सुनहरी पन्नी से मढ़ी गत्ते की गदा और दूसरे हाथ में भीख का खप्पर थमा दिया और उसे टोले से बाहर सहर की तरफ हंकाल दिया। टोले के लड़के-लीतरे तालियां बजाते पीछे दौड़े तो फन्ने ने उन्हें डटियाकर बरज दिया।

'हनुमान' बना नरसिंघा जब तक टोले में खड़ा था, उसे लगता था आज वह बड़ा हो गया है। बहुत बड़ा। टोले के बड़े-बड़े बूढ़े उसे हाथ जोड़े सीस नवा रहे· · ·पल-पल मारपीट करने वाला फन्ना उसके आगे झुका था। पोखर पारकर जब वह मजूर बस्ती के छोर तक पहुंचा तो उसे धूप खाते छोरे-छोबरों ने घेर लिया।

"अरे ! जकऊन ? बानर. . .बजरंग बली !"

"ओ-ओ तू किहां से आया ?"

नरसिंघा ने उन्हें आंख चौड़ा करके घूरा तो एक बोल उठा, "ओ बौड़म, तेरा जे रूप ! अरे ! भेण का जे तो आपन नरसिंघा।"

"ओय नरसिंघा ! जे तेरी गदा, जे तेरी पूंछ। अरे ! जे कैसे ? बानर का मूं तो काला होवे, तेरा सुफेद और फिर उसमें जे का ?" कहकर चंदू ने उसके मूं-गोले पर हाथ फिरा दिया।

नरसिंघा को मजूर-बस्ती में इसीका डर था। उसका चंदू से कल ही टंटा हुआ था। वह नरसिंघा से अंटस बांधे था। सोचता हुआ वह आगे बढ़ा कि फिर

चंदू सामने आ खड़ा हुआ। उसने हाथ बढ़ाकर उसका मुंह काला कर दिया। जाने कहां से वह काले हाथ सान लाया था। नरसिंवा भभककर 'हू-हू' करने लगा। आगे बढ़ा कि उसने पीछे से उसकी दुम खींच ली। सब खिलखिलाकर हंस पड़े। अभी और भी गुल खिलते कि तभी काम-कमठान पर जाते मजूर-मजूर-नियों ने बचाव कर पूंछ ठीक लगा, उसे बस्ती से पार कर दिया।

बस्ती पार कर वह बाजार पहुंचा। पहले तो धमक-धमककर चलता, फिर पेढ़ी-दुकान के आगे जा खड़ा होता। इधर-उधर खूंदता लोगों का ध्यान बंटाता और भीख का पतरा आगे कर देता। कोई देता, कोई धुकियाता। इसी तरह वह दूजे पहर तक डोलता रहा।

वैसे फन्ने ने उसे कई दिनों खूब रबत करवायी थी—नाक में नली घुसेड़ सांस लेने की। एक बार तो गोला उसके मुंह में भरकर उसे दिन-भर झुग्गी में रखा था। महावरा हो जाने से दम तो नहीं घुटता था, पर मुंह में ठुंसे गोले से उसके जबड़े तने के तने रह गये थे। नाक से सांस लेते-लेते वह थक भी गया था पर उसने हिम्मत नहीं हारी। फन्ने का भी डर था। उसने सफा बोला था, "बेट्टे! जे मजूरी है। कामचोरी न करना। भूखों ही नी मरेगा। पोस्त के फोक का रस भी नी मिलने का तेरे को. . .और तेरी मां भी दूजे ठौर किसी मरद के जा बैठेगी, फिर तेरा किन ठौर?" सोच में डूबा था कि टप से पत्तर ठिनका। किसी भगत ने पैसा गेरा था।

चढ़े सूरज की किरन सिंदूर-पुते तन पर काटने लगी तो वह एक तरफ सुस्ताने बैठ गया। सड़क से पीठ मोड़ उसने पत्तर में हाथ घुमाया तो पांच-दस पैसों के सिक्कों से मुट्ठी भर गयी। गिने तो दो रुपये ऊपर बीस पैसे थे। उसने चाहा पैसे कहीं सहेज ले, पर रखे कहां? कुरता-कच्छा होता तो खीसा-खीसू होता, यहां तो लंगोट के नाम पर देह पर एक चिंदी बंधी थी—बस।

"हनुमान जी, अपनी पूंछ सहेजो—पैर पड़ गया तो पाप लगेगा!" इतना कहकर उस मजूरनुमा आदमी ने उसकी पूंछ उसके हाथ में थमा दी और उसके सामने दस पैसे फेंक दिये। अब दो रुपये से ऊपर मजूरी हो चुकी थी। वह पांच पैसे की मूंगफली और एक चा का हकदार हो गया था। पर खाये-पीये कैसे? मुंह में रामगोला जो ठुंसा है। उसे अब भूख लग आयी थी। भूख तो रोज लगती और मरती है, पर प्यास? कैसे पीये पानी? उसने एक बार गोला उगल डालने की सोची पर फिर कैसे गोला भरेगा, मिट्टी पोतेगा? यही सोच वह रुक गया। थोड़ा ठहरकर वह उठ खड़ा हुआ। दो-एक दुकानदारों के आगे उसने खूंद भरी भी, पर जब प्यास और सताने लगी तो आगे न जा, जिस गैल आया था, उसी-पर बढ़ चला।

वह बाल्मीकि बस्ती के आखिरी छोर पर खड़ा था तभी स्कूल की छुट्टी

हुई। स्कूल से छुटे छोरों के टोल ने उसे आ घेरा। घंटों पोथी-पाटी मे रुंधे छोरे अब चुहल पर चढ़े थे। एक डाटक छोरे ने पूंछ ही नहीं उखाड़ी, उसकी गदा भी छीन ली। वह बिलबिलाकर हूं-हूं करता धमक रहा था कि एक हाथ उसके खप्पर में पड़ा और सिक्के खनखनाकर धरती पर गिर गये। उसने 'बचाओ-बचाओ !' की गुहार जीभ पर उगायी पर बैन कंठ में घुटकर रह गये। उसने हड़बड़ाकर सिक्के सहेजे तो अब उसके पास कुल एक रुपया दस पैसे थे। दुश्मन की नली तोड़ने वाले बजरंग बली दुश्मन को महाबली देख खुद रोने लगे। उसने मुंह से गोला निकाल गला फाड़कर रोना चाहा, पर. . .दिन-भर भूखा-प्यासा-अन-बोला रहा और मजूरी लुट गयी। बाप्पा को क्या बोलूंगा ? वो मानेगा, भरोसा करेगा ? सोचता हुआ वह उठा और मरे-मरे पग बढ़ाता पोखर की पुलिया के पास जा खड़ा हुआ।

आगे फिर नरसिंघा का वही सांग था, पर अब उसके साथ छग्गी लगी थी। एक हाथ में सोटी और दूजे में भीख-पातर थामे। 'जय बजरंगबली, तोड़ दुश्मन की नली !' के जै बोल के साथ पीछे चलती ऊधमी छोकरे-लड़कों के झपट-झोटों से महाबली को बचाती।

कल नरसिंघा ने लाख हनुमान-राम जी की आन ले कहा था—मैंने रामगोला काढ़ मूं नी खोला, न खाया न पिया। पहर खूंदना दो मांगना किया, पर फन्ने ने एक न मानी। उसने डटियाया, धमकाया ही नहीं, उसकी कुट्टस भी की। छग्गी फिर छींके-पिंजरे लिये खाली हाथ लौटी तो उसने हुकम दिया कि कल से वह भी उस 'रोनिये टुकड़िये बजरंगे' के साथ जायेगी। वैसे भी कौन कमा के जुटा रही ? इसीलिए मा-पूत आज संग-संग डोल रहे थे।

पेड़ों तले धूप घिरती कि दोनों निकल जाते। बजार-बस्ती में मांगते घूमते। परछाईं के पेड़ बनते-बनते जहां अलगाव दिखता, वहीं नरसिंघा अलसा के बैठ जाता। खाने-पीने की हठ करता। छग्गी नहीं मानती तो पसर जाता। खड़ा न होता। हारकर छग्गी उसके मुंह से गोला हटा उसे कुछ खिला ठंडा पानी पिला देती। खा-पीकर भी वह फिर से गोला मुंह में धरने को राजी न होता।

"माई री ! मैं बोलने-हंसने को तरस गिया। इस कठगोले से जबड़ा पिरा गया। किसी दूजे हिल्ले लगा दे ना।"

"दूजा हिल्ला ? अपनी 'जनती' को नचा चोपड़ पे। पर इस डाइन को कौन देखे ? तू कौन मर जायेगा जो एक तनी दड़ी-गेंद मूं में रख लेगा ?"

"मरने की ना बोलता। नाक में खुंसी नली से खूब सांस लूं हूं, पर आसपास देख, तेरे सूं बोलने-हंसने को जी करे पर बोलूं कैसे ? सुभू ननकी मुनिया मुझे देख डर गयी, भूत. . .भूत बोल पीठ फेर खड़ी हो गयी। मेरे जी में आया प्यार कर पुचकार लूं. . ."

"आया बड़ा प्यार-पुचकार वाला. . .।"

"क्यों, बच्चों को प्यार-पुचकार पाप है भला ?"

"अरे, तू भी कौन स्याना है ? बालक ही है। तुझे प्यारा-पुचकारा किसीने, जो तू भी वैसा ही करेगा. . .? सौ ऊपर बीस, तेरे मरे बाप के हाथ धर, फन्ने ने मेरे साथ तुझे भी अपने हिल्ले लिया है—भरी बिरादरी के आगे। फिर पोस्त की लत न हो तो मैं ही भगाकर पार कर देती तुझे, पर. . .चल खोल थूथनी।" और उसने जबर से रामगोला उसके मूं में ठूंस, गीला हाथ फिरा उसे ज्यों का त्यों कर दिया।

दोनों फिर चल निकले। छग्गी पतरा पसारे घिघियाती और नरसिंघा दुकानों के आगे घूमता-खूंदता रहता। जब धूप पीली होकर मरने लगती, दोनों पोखर के टोले को मुड़ जाते।

यूं तो छग्गी-नरसिंघा हर सांझ फन्ने के आगे डेढ़-दो रुपये की रेजगारी लाकर बिखेर ही देते, पर इससे काम सधता नहीं था। नरसिंघा समेत छग्गी को अपने 'घर घालने' के लिए फन्ने ने जो करजा कराया था, उसका बोझ माथे था ही, ऊपर एक छेक और था कि—जो फिरे, वो चरे, दोनों मां-पूत तो 'कमाई' से परबारे पैसा मार दिन में कुछ न कुछ खा-पी लेते थे और वह दिन-भर पुलिया पर बैठा, उबासी लेता जुए झारता रहता। छग्गी ने 'रामजी पर की सौं' ले गंगा मैया का वास्ता दे उसे कमाई न खरचने का बिस्वास दिया था, पर उसे परतीत न होना था, न हुआ। और होता भी कैसे ? एक दिन उसने रामगोले पर पहचान की रेख डालकर उसे आगे रख नरसिंघा के मुंह में धरा था। पर जब सांझ उसने खुद गोला अपने हाथ से निकाला तो पहचान की रेख पीछे थी। उसने दोनों को खूब कूटा-पीटा भी, पर कमाई में बढ़ोतरी कहां ? उसे दिन-भर सोच रहती कि क्या जुगत जोड़े कि कमाई बढ़ जाये। नाम उसका फन्ने था। वह कई फन जानता था, पर सर मारकर भी वह कोई फन न निकाल सका।

उस दिन गिनती-भर को सिक्के लाकर छग्गी ने फन्ने की हथेली पर धरे थे। फिर भी वह चुप रहा था। रात को वह ठीक से सो न सका था। जब-तब कुछ बुदबुदाता रहा था। भोर को भी वह 'राम-राम' 'सियाराम' रटता रहा था। सूरज के थाल के दमकते ही वह 'राम लक्ष्मन जानकी, जय बोलो हनुमान की' के जैकार के साथ लकड़ी टिकाता टोले से निकल गया था। जब लौटा तो उसके चेहरे पर संतोष की रेख अंकी थी। उसने सर खपाकर अपने बालपन में रामरखा पंडित से सुनी 'सीताराम बजरंगबली की कथा' से आखिर 'रामफल' और 'रामफल के बीज' की जोड़-तोड़ बिठाकर एक नयी कथा गढ़ ली थी। 'भगतों का, खास तो मां-भेणों का धरम-धियान खींचेगी जे कथा'। इसी आस-बिस्वास को

पालवह अदालत के आगे दरी बिछाये बैठे बाबू के आगे जा टिका था। बोला, "बाबू, एक की ठो सवा ले लो, पे जैसे हम बोलें वैसा मोटे कागद पर जई मसीन से लिख दो।"

वह बोलता गया था और बाबू अंगुलियां मारकर कागज पर टिपटिप करता गया था। बिना चां-चूं किये, सब पूरा हो गया तो पैसे देने के पहले फन्ने ने कहा, "बाबू, जो लिखा, पढ़ दो एक बार।"

वह पढ़ने लगा था :

राम लछमन जानकी, जै बोलो हनुमान की ! तो भगतो, जो होनी थी जूं हुई। राम, लछमन, जानकी बन में रहें। सिगया आकास में जूं फूलै जैसे मन में छलबल की जवाला फैले। सोने का हिरन एक चौकड़ी मारता डोलै। जनक दुलारी की नैन हिरन की भोली दीठ सौं जुरें। मोहिनी रूप : छबी देख बोली—नाथ ! इसे लै आओ। हम पालैं-पोसैं। राम जी समझावैं—परान पियारी, माया का देस है जो यह बन है। कौन जाने ये मरग छौना किसी का हो जादू-टोना। लछमन जी हामी भरैं पर भगतो, जानो तिरिया हठ। सीता जी देवी थीं, सती थीं, पर थीं तो लुगाई जात। बस पकड़ बैठीं तिरिया हठ।

राम लछमन जानकी, जै बोलो हनुमान की !

—चले राम, उठा धनुष-बान। लछमन जी जानकी के निगाह बान। राम पीछे—छौना आगे। जैसे माया हरि से भागे। सांझ बिलानी-निसा घिरानी। राम न आने पल-छिन गुंथ पहर बनैं तो जानकी हिरानी। दायीं-दायीं आंख उड़ै, मन डूबे। बोल ब्याकुल बानी—देवर जी जाओ ! अपन भय्या को ल्याओ। लछमनजी करैं आनाकानी। बियाबान बन कैसे छोड़ै राजरानी। पर सीता जी पल बिकरैं। काट करता बोल मारैं। सीता जी को लछमन-रेख भीतर घाल, राम खोजन चले, लखनलाल।

राम लछमन जानकी, जै बोलो हनुमान की !

—फिर तो जानो भगतो ! लंका के रावन की जो कुटिलता थी, फली, और जानकी गयी छली। उनका हरन हुओ। राम-लछमन डेरे आये। सीता नहीं पा अकुलाये। राम करें बिलाप, लछमन अपनी करनी पर पछताये। शबरी-जटायु सब आये विपद जान, अन्त आये पवन पूत हनुमान। हाथ जोड़ राम चरनों में सीस डाल मां जानकी का अता-पता लगावे का परण धार। चरणरज ले बोले विक-राल। पहाड़ फांद उड़ चले बजरंग बाल। बन-बन छानें, नदी नद खंगालें। पे सीता मैया का ठौर न पावें। तीन दिन तीन रात अन्न न जल, कुंद न फल, परान हिरानै, कंठ सुखानौ। देव राम दुखी—मां जानकी गुमानी। खावैं-पीवैं कैसे ? हनुमान सयानौ पे परान जो न रुकैं, तो मां को भी कैसे पावें ? बस जे ही धार रामफल एक मुख में गेरो। रामनाम लिये हिरदय जुड़ानौ। पे रामफल के बीज

धरती पर कैसे डारैं। जे तो राम भगत को हीय बिदारैं। कभू नहीं, बस पिरण किया जूं ही मुख में धारे रहैं। फिर दिन उगै, निसा घिरै। इत्ते में राम उच्चार मुंह सूं पड़ा बीज अंकुरै। अब हनुमान रामनाम कैसे उचारैं? पर हठी हनुमान धरा पर बीज न डारै। मन ही मन राम पुकारैं। बीज मुख में फैले। अब हनुमान सांस कैसे लेवें? दम घुटै सांस रुकै पर हनुमान परण से ना टरैं। रामफल के बीज मुख धारैं अन्त तो जा पुगे लंका के असोक बन। बस वहीं सीता जी कूं राम की मूंदरी दिखायी। सीता जी राम-लछमन की कुसलाई पूछैं। पर हनुमान मुख से नहिं बोलैं। हनुमान कूं मौन-आकुल-ब्याकुल देख सीता जी ने आपन तेज जगायौ। हनुमान की मन चीती कूं टोह पायो। के राम के परम भगत राम बीज मुख में पुसारूँ। फिर क्या? राम दुलारी ने आपन आंचर फैलायो। हनुमान ने रामफल बीज आंचर में गेरायौ। सीता जी ने हनुमान कूं जलपान करायौ। अपना भाग सराहौ। और जयराम जी के साथ सीता जी का समाचार ले हनुमान राम-रणों की ठौर उड़ै।

तो भगतो! तभी से जो देवी रामफल के बीज को आपन आंचर में धार इन रामभगत हनुमान की जलपान से सेवा करैं, उन्हैं राम उसी ढब मिलैं जैसे जानकी को मिलैं। राम लछमन जानकी, जै बोलो हनुमान की!

ठिकाने पर आकर उसने बांस पर टंगी परबत धारे हनुमान जी की फोटू को चौखट में से हटा गुड़ी-मुड़ीकर नमक की हंडिया में डाल दिया और उसकी ठौर अपनी गढ़ी कथा के कागद को मढ़ दिया।

फन्ने की सूझ ठीक बन पड़ी थी। राम-बीज की जो कथा उसने गढ़ी थी, खूब चली-फली थी। अब फन्ने भी बजरंग बली के संग हो लिया। पढ़े-लिखों को वह जाकर ना-ना करते भी कथा की कांचमढ़ी पाटी थमा देता और जो ना पढ़े होते, उन्हें खुद डूबकर भगती-भाव से रामफल की कथा सुनाता। धूप सेंकते अपने छोटे-मोटे धंधे में लगे लोग कथा के बोल सुन-समझ लेते और कुछ न कुछ दान-रूप कथा-पाटी के कांच पर धर देते। कभी-कभार कोई भगत उन्हें न्योत ही देता। पहले फन्ने कथा सुनाता। आंखें भर लाता और बीच-बीच में बजरंग बली के रूप धारे नरसिंघा के चरण छूता। छग्गी आंखों से आंचल लगाती। फिर जब कथा पूरी होती तो कोई भगतीमती घरनी बजरंगबली के आगे आंचल पसार खड़ी हो जाती। 'जयराम', 'जय सियाराम' की रट लगाती। 'राम भगत हनुमान की जै' के साथ राम-बीजदान की बिनती करती। पहले तो बजरंगबली सुनी-अनसुनी करते, फिर विनय-चिरौरी होती तो रामगोला छोड़ मुंह में धरे रामफल के बीज आंचल में उगल देते। तब जलपान-भोग होता। पहले बजरंगबली जल लेते, फिर भोग लगाते। बाद को फन्ने और छग्गी खाते, पहले नहीं। बोलते, पहले राम-भगत भोग लगावैं, तब राम-भगत के भगत परसाद पावैं।

इधर नरसिंघा को फन्ने पोस्त का रस भी छककर पिलाने लगा था। उससे हंसी-चुहल भी करता। छग्गी भी कम ही पिटती। दिन-भर बीड़ियों के सुट्टे उड़ाती। फन्ने से ठुमक-ठुमक बतियाती। पर नरसिंघा गुल-गप्प-मूक रहता। अच्छे से अच्छा भोग लगाकर ठौर पहुंचाता, पोस्त पीता और बीड़ी का धुआं उगलकर पड़ा रहता चुपचुप। बुलाने पर भी 'हां-हूं' ही करता। बिन बोले भी उसका मुंह खुला ही रहता। कभी जब मुंह में मक्खी भिनभिनाने लगती, तभी वह मुंह बंद करता। मन से तो बोलता ही नहीं, पर जब बोलता तो बेपर की हांकने लगता।

"मैं बजरंगबली हूं—फन्ने, तू मेरा चाकर—मैं तेरा ठाकर...। मेरा झूठा खाने ! मेरा हगा खायेगा ? और तू कहां की महतारी...फन्ने का भूत...। उसके मूं में दारू का कुल्ला करती—मेरे मूं में गोला ठूंसती। इस लंगड़ को अपनी टंगड़ में सुलाती और मुझे टांग मारती। मैं कभू तुम्हारी लंका में लंपा लगाऊंगा। भगत-भगतन को भी मूत में बसाऊंगा।" उसकी बकझक सुन कई बार छग्गी फन्ने से लड़-भिड़ गयी थी।

"हजार बार बोला तेरे कूं, इस लपरू को जास्ती पोस्त का पानी मत पिला पर...।"

"अरे तेरे बन्दर को जब भोग के नाम माल-मलीदा उड़वाऊं तब तो नी बोले तू...फिर पोस्त, कौन तू हग रही...पैसे काटूं तभी आवे ना।"

'कौन तू पैसे अपने पसीने के काटे ? दिन-भर मेरा छोरा गोला-पटी कटी जीभ लिये डोले, तभी आवै ना पैसा !"

"अरे रीछनी ! अपनी जंगली जीभ से तू-मैं दोनों क्या कर रिये जो तेरा जे मां-चेंट बेट्टा कर लेता ! फिर कौन परबत उठा लिया जीभ पर, एक हलका कठगोला और दो बीज ही तो धार रखे हैं थोथ में...बदल में माल-मलाई पावे, ऊपर से नसा-नुसी का ठाठ अलग।"

"अरे ओ लंगड़-बतंगड़ ! तू ही ना कर ले, भर ले सब सांग। मैंने भोत किया। अब तू बन बजरंगबली, मेरे भाई के साले !" एकाएक नरसिंघा फटाफट बोल गया।

"लंगड़-बंगड़। जो बोल, हूं तो तेरी मां का खसम। मैं जो ये सब करने लगा तो तुम दोनों खाओगे क्या मेरा हगा-मूता ?"

"री मां ! अब जे मौन-मजूरी मेरे से नी होनी। छोड़ इसकी झोली-झुग्गी और कहीं और जा पड़, कहीं काम-मजूरी करेंगे।" नरसिंघा ने छग्गी का हाथ थाम कहा।

"हैं ! इस छगली की हौंस जो चले और ठौर ? फिर सुभू उठते ही पोस्त का पानी गले न उतरा तो दो दिन में मैला मूं से निकलेगा।" फन्ना तनककर बोला।

"बेट्टा ! कसाई के खूंटे बंधे हैं हम दोनों। सो भी जा," कहकर छग्गी ने उसका माथा सहला दिया।

फन्ने के होंठों में ठुंसी बीड़ी की सुलगी ठूंठ खोली के अंधघुप्प में लाल जुगनू-सी दिप-दिप भर रही थी। नरसिंघा की गुर-गुर अब भी न थमी तो छग्गी ने फन्ने के होंठों से बीड़ी झपट उसके मुंह में ठूंस दी।

भोर नरसिंघा बड़ा अनमना था। किरन काटे पर कुनमुनाकर करवट ले उसने फिर आंख मूंद ली। छग्गी ने हाथ पकड़ उठाया। तन पर मिट्टी पुतवा हाथ से मुंह में गोला ठूंस, गदा तान उठ खड़ा हो गया। थोड़ी देर बाद बजरंगबली की जै के साथ तीनों फिर सड़क पर थे।

आज रामनवमी थी। फन्ने ने कुछ बड़ा और बढ़िया पाने के इरादे से सहर से सटे गांव की सुध ली। उसने घर-घर हर चौखट पर, कथान-पाटी, बखान-बता खासा पैसे जुटा लिये। सूरज ऊपर आये-आये तभी उसे बीज-दान के दो-एक न्यौते मिल चुके थे। पर आज वह वहीं भोग लगवाने की सोचे था जहां ख़ान-पान से आगे लत्ते-लूगड़ की जुगत बैठ सके। उसने बजरंगबली के मन-मान का हीला ले पतली हालत के जजमानों को टाल दिया। और बस अड्डे के आगे लिलाये खेत में खड़े बड़े 'रामभवन' को बढ़ चला। वहीं भोंपू पर रामधुन लगी थी। और सांझ को ही उसे संपूरन होना था।

'रामभवन' के ठीक सामने उसने जमाबड़ा लगाया। बैठे-बैठे देर हो गयी। किसीको आता न देख उसने बीड़ी सुलगायी। दो सुट्टे मारे ही थे कि नरसिंघा ने बीड़ी लपक नाक के छेद में खोंस ली और फिर जोर-जोर से ऊंची सांस लेने लगा। उसकी नाक के दूसरे फुनगे से धुआं निकला ही था कि तभी घर की मालकिन सामने आ पड़ी। थोड़ा देख-समझ बोली, "कैसा है तुम्हारा बजरंगबली ? बीड़ी का भोग लगावे, वो भी नाक से।" इतना कह मुस्कान-सी तान आगे हो गयी। तभी फन्ने ने झट उसकी नाक से बीड़ी झपट दूर फेंक दी और 'जै बजरंगबली' के साथ पाटी उसके आगे कर दी।

"मैंने सुन रखा है तेरे बजरंगबली और रामफल की कथा के बारे में. . .मैंने तो तुम्हें न्यौंतने के लिए उन्हें कहा भी था। बैठो, आती हूं," कहती घाघरे-लुगड़े में बसी धरम-धियान वाली अधेड़ उमर की भगतन घर में हो ली। घड़ी टले वह आयी। बजरंगबली की आरती उतार, आंचल फैला, सामने खड़ी हो गयी। नरसिंघा ने मुंह चौड़ाकर गोला हटा रामबीज आंचल में उगल दिया। न जाने कैसे, बीजों के साथ लद से थूक का थक्का भी गिर गया। उसने आंखें तरेरीं। तभी 'जै सियाराम' के संग रामगोला धमक से फन्ने के कंधे पर जा लगा।

"अरे जे का करो बजरंगबली ?" फन्ने उफान रोक बुदबुदाया।

"तोड़ दुश्मन की नली ! राम कूं बेंच बजरंगबली को कलपाने वालों ढोंगियो !

लुच्चो ! मेरी आवाज की लास खाओ तुम ।" नरसिंघा चीखता बोला ।

"क्या हुआ रे तेरे कूं ?"छग्गी ने पूछा ।

"चुप. . .दोनों दिन-भर हा-हू कर हंसो, ठिठोली करो । भला देख बोलो, बतियाओ. . .मैं दिन-भर कठगोले के नीचे जीभ दबा अरथी-सा डोलूं फिरूं ।"

"के बोल रिया तुमारा बजरंगबली ?" मालकन ने पूछा ।

"अरे नरसिंघे, पगला गिया रे क्या ?"

"पगलाया नी, ठीक बोल रिया हूं । अब रोक मेरा बोल, आज वो सिगरेट बेचने वाले लोग देखे तूने ? दो आदमी कित्ते लम्बे-लम्बे बांसों पे चढ़े चलते थे—उन्हें देख जगत मुलका रिया था । मेरा मन हंसी से भर गया, पर हंसूं कैसे ? मेरी हंसी मर गयी । बोली गोले के नीचे दब गयी । ध्यान है, कल एक मेम ने छतरी खोली तो उसके तार में उसके बालों का टोपा उलझ ऊपर गया—'गंजी मेम' कहकर लोग कुरलाये । तुम दोनों बात मार-मार के खिल्लाये और मैं अपनी बोल की लास उठाये मन मारे मुंह मूंदे खड़ा रिया ।"

"अरे बोल के कौन तेरा पेट भर जाता, बिन बोले जो माल मिले तो भी बड़बड़ारिया है ।"

"चिड़िया को सोना चुगा दो, बिना चहके रे सकती है ? अब मैं भी बोलूंगा और खूब बोलूंगा, मुझे रोक, तेरे बाप का हो तो ?" और वह दनादन गालियां उगलने लगा ।

कान में अंगुलियां डाल मालकिन जाने लगी तो वह उसके आगे फिर गया, "अरे भगतन ! जावे कहां. . .तू अंधी है जो मैं तेरे कूं बजरंगबली दिखूं ? मैं तो नरसिघा हूं । जे रामबीज हैं के खजूर की गुठली ? धरम पाल रही । तुम जैसे ढोंगियों ने ही मेरे मूं में गोला ठुंसवाया, मेरी अवाज को मारा है । मैं तेरी भी लंका में आग लगा दूंगा ।"

इतना कहकर वह फांदता, धमकता सामने ओसारे में जा कूदा और राम-मूरत के आगे सजे पूजा के फूल-पान को इधर-उधर बिखेरता, बम-बम करता, भोजन-पानी को रौंदता भाग खड़ा हुआ ।

मर्यादाहीन

इब्राहीम शरीफ
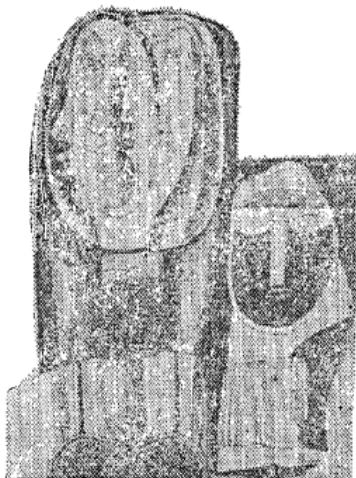
आप लोगों के सामने वाकया बिल्कुल साफ तौर पर पेश कर देना उचित समझता हूं ताकि आप लोग सही फैसला ले सकें कि गलती मेरी है या उन लोगों की, खासकर उस ड्रामची की।

असल में यह सब खुलासा भी मैं नहीं देता, क्योंकि इस घटना या इन घटनाओं को लेकर मैं कतई आंदोलित नहीं हूं। जब जानता हूं कि मैं सही रास्ते पर चल रहा हूं तो क्यों दूसरे राहगीरों से हर चार कदम बाद रास्ता पूछूं ? लेकिन बात यह हुई कि कल शहर के चार-पांच प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने, जिनमें मेरे एम० ए० में पढ़ते समय मेरी बेवा बूढ़ी मां को कभी दस, कभी बीस रुपया उधार देकर हमारा मकान अपने नाम लिखवा लेने वाले समाज-सेवक कौंसिलर भी थे, मुझे बुलाकर ताकीद की है कि मैं अपनी चाल-ढाल सुधारूं क्योंकि मैं इधर बहुत बिगड़ गया हूं और अपने परिवार की शानदार मर्यादा को मटियामेट करने पर तुला हूं। इतना ही नहीं, उन लोगों ने यह भी कहा है कि मैं सामाजिक मर्यादाओं की अवहेलना करने पर आमादा हो गया हूं। इसीलिए उन्होंने एक हद तक धमकी भी दी है कि अगर मैं अपनी आदतें सुधार नहीं लूंगा तो वे ही पहले लोग होंगे जो 'उसे' मेरे खिलाफ कार्रवाई करने के लिए सरकार

का सहारा लेने की सलाह देंगे और जरूरत पड़ने पर इस मामले में उसकी भरसक सहायता भी करेंगे।

अब आप समझ गये होंगे कि बात सरकार-कचहरी तक पहुंच गयी है। ऐसे में, अगर मैं चुप रहूं तो खामखाह सारा दोष मेरे मत्थे मढ़ दिया जायेगा। इसमें एक बात यह भी खास है कि मेरी दो बहनें कुंवारी हैं। अगर वे सब लोग मिलकर मुझे आवारा और लफंगा साबित कर देंगे तो मेरी बदनामी मुझसे सरकती हुई मेरे परिवार तक पहुंच जायेगी और फिर तो मेरी बहनों का ब्याह होना भी असम्भव हो जायेगा।

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर मैंने सोचा कि सारा वाकया हू-ब-हू आप लोगों के सामने रख दूं। बाद में, तंग वक्तों में, कम से कम मेरे साथ आप लोगों का नैतिक और मानवीय समर्थन तो होगा।

असल में बात यह थी कि करीब ढाई साल पहले अखबार में एक विज्ञापन निकला था। विज्ञापन 'अखिल भारतीय नाटक परिषद्' की तरफ से था। योग्य अभ्यर्थियों से दो साल की ट्रेनिंग के लिए आवेदन-पत्र आमन्त्रित किये गये थे। हर महीने सवा दो सौ रुपये का वजीफा भी देने की बात थी।

पिता जी की अचानक मृत्यु के बाद परिवार की जिम्मेदारी मुझपर पड़ गयी थी। बूढ़ी बीमार मां और बहनों की सुख-सुविधा पर ध्यान देना मेरे ही जिम्मे था। मुझे एम० ए० किये करीब दो साल बीत गये थे, पर कहीं पैर नहीं जम पा रहे थे। इसलिए सहज ही यह विज्ञापन देखकर मेरे मन में इच्छा हुई थी कि अगर यह बात बन जाये तो आराम रहेगा और आगे ज़िन्दगी भी बन सकती है।

मैंने आवेदन-पत्र भेजा। अपनी सारी योग्यताएं बतायीं कि मैं एम० ए० द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हूं, विद्यार्थी-जीवन में चौंतीस नाटकों में भाग ले चुका हूं, चौदह बार इनाम पा चुका हूं, उन्तीस बार आकाशवाणी के कार्यक्रमों में हिस्सा लिया है और खुद नौ एकांकी नाटक लिखे हैं इत्यादि।

वाकई इस क्षेत्र में मेरी योग्यताएं उम्दा हैं और आज भी मुझे फख्र है कि अगर मेरे रास्ते में उस जैसे ड्रामची नहीं टकराते तो मैं अब तक अखिल भारतीय ख्याति का बन गया होता।

खैर, आवेदन भेजने के एक महीने बाद मुझे परिषद् से इंटरव्यू के लिए पत्र मिला, इंटरव्यू से ठीक दो दिन पहले। हालांकि पत्र तेरह दिन पहले टाइप हुआ था, लेकिन तीन दिन पहले ही डाक में छोड़ा गया था। इस देरी की वजह से मुझे दिक्कत हुई थी। इंटरव्यू के लिए अपना सूट देने वाला मेरा दोस्त अपने जीजा के भाई की शादी में बाहर गया हुआ था और मुझे दूसरा सूट जुगाड़ने में काफी दौड़-धूप करनी पड़ी थी।

आखिर मैं इंटरव्यू में गया। विशाल मेज के इर्द-गिर्द चार भारी-भरकम

सज्जन, जिनमें से दो खद्दर के कपड़ों और एक सफेद गांधी टोपी में था, विराजमान थे। मैंने बाकायदा प्रणाम किया, हल्की-सी मुस्कराहट होंठों पर फैलायी और उन लोगों के आदेशानुसार, सविनय कुर्सी पर बैठ गया।

प्रश्नों का सिलसिला शुरू हुआ। पहले सज्जन ने पूछा, "अगर आपका नाम इब्राहीम शरीफ न होकर इब्राहीम लोदी होता तो आपके व्यक्तित्व में फर्क पड़ता ?" प्रश्न की गहराई तक पहुंचने का मौका नहीं था, मैंने उत्तर दिया, "जी, मेरे पिता जी बहुत मामूली पढ़े-लिखे थे. . .इसलिए उन्हें मनोविज्ञान का ज्ञान नहीं था. . .।" दूसरे सज्जन ने बहुत गंभीर लहजे में पूछा, "क्या आप समझते हैं कि एक अच्छे अभिनेता के लिए मछली खाना जरूरी है ?" मैंने पान चबाया, "जी. . .जी नहीं. . .भरत मुनि ने इसका ज़िक्र नहीं किया है. . .?" तीसरे खद्दरधारी सज्जन ने सवाल किया, "महात्मा गांधी को आप दार्शनिक समझते हैं या राजनीतिज्ञ या समाज-सुधारक ?" मैं गिड़गिड़ाया, "जी, वह अभिनेता नहीं थे. . .।" टोपीधारी सज्जन ने रोबीली आवाज में पूछा, "भारतीय इतिहास के तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्तियों के नाम बताइये. . .।" मैंने अनुनय किया, "जी. .औरंगजेब. . .मुहम्मद अली जिन्ना. . .गुरु गोलवलकर. . ."

पहलेवाले सज्जन अगला प्रश्न पूछने के लिए मुंह खोल ही रहे थे कि चपरासी चाय लेकर आ गया। टोपीधारी सज्जन के लिए दूध अलग से था। चारों सज्जनों ने कहा, "अब आप जा सकते हैं. . ."

इंटरव्यू में और लोग भी आये थे, करीब पचास तक। मैंने लड़कियों को छोड़कर बाकी हर लड़के से उसकी योग्यताओं, पिछले अनुभवों के बारे में पूछा। मेरी पक्की धारणा हो गयी कि मैं ज़रूर चुन लिया जाऊंगा। क्योंकि कुल बीस लोग उन्हें चाहिए थे, और बीस में से मैं एक न होऊं, इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

मैं खुश हुआ। उस शाम दोस्तों को चाय भी पिलायी। मां और बहनों को ढाढ़स दिया।

इंटरव्यू को बीस दिन हो गये। वहां से कोई पत्र नहीं आया। मां और बहनें बार-बार पूछने लगीं। दोस्तों ने भी पार्टी के दूसरे राउंड की हविस से मेरे इंटरव्यू के नतीजे के बारे में दर्यापत करना जरूरी समझा।

एक दिन मैंने दफ्तर में जाकर दर्यापत किया। दफ्तर के बाबुओं ने तो सुबह साढ़े ग्यारह बजे यह कहकर टाल दिया कि अभी लंच का समय है, उसके बाद पूछ लो जो तुम्हें पूछना है। ढाई बजे तक मैं लंच के वक्त के टूटने के इन्तजार में बैठा रहा। बाद में एक बाबू ने दूसरे बाबू के पास दौड़ाया, यह कहकर कि यह मामला मैं नहीं, दूसरे व्यक्ति डील करते हैं।

आखिर शाम के चार बजे चपरासी ने बताया कि इंटरव्यू के नतीजे तो एक

हफ्ता पहले भेज दिये गये हैं।

मुझे गुस्सा आया। मां और बहनों को दुख हुआ। यारों को राहत से भरा रंज।

(हालांकि यहां मेरा इरादा महज इंटरव्यू और तत्सम्बन्धी ज़रूरी तथ्य सुनाना ही है, फिर भी अगले इंटरव्यू तक की मेरी जिन्दगी की कुछ खास बातों पर प्रकाश डालना भी जरूरी है, क्योंकि शहर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा मुझ-पर लगाये गये लांछनों से यह भी सम्बन्धित है।)

इंटरव्यू के नतीजे का पता लगाने के बाद फिर से मेरे सिर पर चिन्ता सवार हो गयी कि अब क्या किया जाये ? पिता जी की छोड़ी हुई प्राविडेंट फण्ड की रकम से काम चलाना कठिन था। बहनों के दहेज की फिक्र अलग से थी।

मैंने बहुत सोचा। एकाध खास दोस्त से आगे के काम-धाम के बारे में मश-विरा किया। कुछ पल्ले नहीं पड़ा।

एक दिन मेरे एक दोस्त ने बहुत रहस्यात्मक लहजे में कहा, "यार, कुछ पैसा बनाने का एक जरिया नजर आया है. . .तू अगर तैयार हो जायेगा तो कल से ही काम करने लग जायेंगे. . .।" मैंने जिज्ञासा दिखायी।

उन दिनों सीमेंट पर कंट्रोल हो गया था। शहर में मकान बहुत बन रहे थे। सीमेंट की बहुत डिमांड थी। काला बाजार खूब चलने लग गया था। दोस्तों ने सुझाया, "देख, एक सीमेंट की गैर-कानूनी एजेंसी हजारों बोरी सीमेंट हर दिन इधर से उधर कर देती है. . .उसे होशियार एजेंटों की जरूरत है, जो देखने में मासूम और सज्जन लगें. . .अच्छी रकम मिलेगी. . ."

बात मुझे बुरी नहीं लगी। मेरा दोस्त भी उसके लिए तैयार था और वह भी मेरी तरह एम० ए० था।

हम दोनों ने एजेंट बनने का निर्णय कर लिया। दोनों ने सोचा, जब हमारी योग्यता की सरकार को ज़रूरत नहीं है, समाज उसकी कद्र करना नहीं चाहता है तो क्यों खामखाह के आदर्शों के लिए भूखा मरा जाये ? देखते नहीं हो, साले टके के नहीं हैं, मज़े उड़ा रहे हैं. . .बहनों को क्लबों में भेजते हैं, बीवियों से अफसरों की दावतें करवाते हैं और खूब अकड़कर चलते हैं. . .। हम लोग महज़ जीवित रहने के लिए क्यों न कुछ करें ?

हमें अपना धन्धा बहुत खौफनाक नहीं लगा। हम दोनों ने साझे में ढाई महीने यह काम किया। अच्छे पैसे मिले। उन महीनों में हमने तीन अण्डर सेक्रे-टरीज़, एक समाचार समिति के सदस्य तथा पन्द्रह-बीस शहर के माने हुए लोगों को सीमेंट दिलवायी और उनके अधूरे मकानों को पूरे करने के पवित्र कार्य में सहायता की। बदले में हमारा जीवन भी इस बीच ठीक से बीता। हम दोनों ने टेरीलीन की दो-दो कमीजें-पतलूनें बनवा लीं, अच्छे होटलों में खाना खाया। मैंने

दोनों बहनों को भी दो बढ़िया साड़ियां खरीद दीं, यह कहकर कि मेरी चार स्क्रिप्टें रेडियो में स्वीकृत हो गयी हैं।

एक दिन अचानक थानेदार ने हम दोनों को बुलवा लिया। हम डर गये। उसने हमें धमकाया। जेबें टटोलीं। हमने अपनी डिग्रियों की दुहाई दी और कसमें खायीं कि हम ऐसा अवैधानिक धन्धा करनेवाले नहीं हैं। थानेदार ने हमारी गर-दनें झकझोरीं, एक तगड़ी गाली दी और रोब से कहा, "अगर पकड़ लिये जाओगे तो हड्डियां तोड़ दूंगा. . .छह साल ससुराल में बैठोगे. . ."

थाने से बाहर निकलकर हम दोनों ने साफ देखा कि हमारे चेहरे लटक आये हैं। हम सीधे अपने हेड एजेंट के पास गये। उसे बात बतायी। वह हमारी बेवकूफी पर नाराज हुआ। बोला, "तुम लोगों को इसीलिए तो कहीं सर्विस नहीं लग रही है. . .क्या तुम्हारी अकल घास चरने गयी थी. . .? अरे, थानेदार को पचास रुपये पकड़ा देते. . .वह हमारी एजेंसी की तरफ से भी तो चार हजार रुपये लेता है. . .तुम्हारी खैर चाहकर हमने ही तो उसे तुम दोनों का नाम बताया था. . . चलो, अब रास्ता नापो. . ."

हमने छुट्टी ले ली।

मैं फिर बेकार हो गया। बहनें पूछने लगीं कि आजकल रेडियो में स्क्रिप्ट क्यों नहीं देते हो ? मां ने अपनी बढ़ती हुई बीमारी की कहानी सुनायी।

एक दिन टी-हाउस में बैठा था कि वह टोपीवाले सज्जन दिखायी पड़े जिन्होंने मेरा इंटरव्यू लिया था। मुझे देखकर पहचान गये होंगे तभी गरदन दूसरी तरफ मोड़ ली।

मैं उठकर उनकी मेज़ पर चला गया। नमस्ते की। बैठने की आज्ञा मांगी। पूछा, "उस इंटरव्यू में आप भी थे न ? मैं तो चुना नहीं गया. . .था. . ."

उन्होंने टोपी ठीक करते हुए जवाब दिया, 'होगा. . .। मुझे नहीं पता. . .।" मुझे उनकी यह लापरवाही अच्छी नहीं लगी। मैंने भीतर कुछ आंच महसूस करते हुए पूछा, "आप नाटक के बारे में जानते हैं ?" वह चौंके। माथे पर बल डालकर बोले, "क्या मतलब. . .कौन हैं आप ?" मैंने ठहाका लगाया। बोला, "मुझे तो आपका चाचा कहते हैं. . .और बोलिये. . .?" वह झल्लाये। बैरे को आवाज दी। बिल चुकाकर बाहर निकल गये। मैं भी उनके पीछे हो लिया। वह चौराहे पर खड़े होकर किसी वाहन का इन्तज़ार करने लगे. . .मैंने पीछे से कहा, "ड्रामे से भारत के इतिहास का क्या लेना-देना ? आपका सवाल कितना भौंडा था, आपको पता है ?" उन्होंने चौंककर मेरी तरफ देखा और चीख पड़े, "आपका जवाब भी तो बेवकूफी का था. . .।" मैंने भी आवाज ऊंची की, "बेवकूफ सवालों का दाना जवाब मिलता आपको, ऐं ?"

वह टैक्सी में घुस गये।

मैंने यह वाकया दोस्तों को सुनाया। मेरे एक दोस्त ने मेरे व्यवहार की व्याख्या की, "इसकी असल में कोई गलती नहीं है. . .इतनी योग्यता होते हुए भी इसलिए चुना नहीं गया क्योंकि इसका इंटरव्यू में अपना कोई आदमी नहीं था। दिल-जला इंसान कुछ भी कर सकता है. . ."

सभीने इस तर्क का समर्थन किया। मुझे आराम मिला।

इस सबके बावजूद मेरी परेशानियां बनी रहीं। मां और बहनों की चिन्ता तो मुझे अशान्त करती ही थी, पड़ोसी बुढ़ियों के इस ममता-भरे सवाल का कि इतना पढ़-लिखकर भी कहीं लग क्यों नहीं जाता हूं, मुझसे उत्तर देते नहीं बनता। कोई उत्तर दे भी देता तो हफ्ते-भर बाद दुबारा ऐसे ही सवालों का सामना करना पड़ता।

जैसे-तैसे एक साल और बीतने को आ गया।

एक दिन मैंने अखबार में देखा कि उसी नाटक परिषद् का विज्ञापन दुबारा छपा है। दोस्तों की सलाह पर मैंने फिर से आवेदन भेजा। मैं इस बार भी इण्टरव्यू के लिए बुलाया गया। मैं जैसे ही कमरे में दाखिल हुआ, मेरा कलेजा धक् से रह गया। मैंने देखा, वही टोपीधारी सज्जन इस बार भी विराजमान हैं। उन्हें देखते ही मैंने निर्णय कर लिया कि इस बार भी नहीं लिया जाऊंगा। फिर भी अच्छे अभिनेता के नाते मैंने मन के भाव चेहरे पर उभरने नहीं दिये।

जो हो, परिणाम वही हुआ। इस बार भी मैं लिया नहीं गया। मुझे बहुत बेचैनी हुई। कई दिनों तक इसी असफलता को लेकर मैं अन्दर ही अन्दर सुलगता रहा।

दोस्तों ने भी पहले आक्रोश व्यक्त किया। बाद में धैर्य बंधाया और कुछ करने को कहा, हालांकि वे खुद भी एम० ए० करने के बाद कुछ नहीं कर रहे थे।

हमारी फिर एक दिन बैठक हुई। हम लोगों ने सबसे पहले सवाल यह उठाया कि क्या हम अपनी बहनों को क्लब की मेम्बर बना सकते हैं? इस सवाल पर कई कोणों से चर्चा चली। किसीने कहा कि इसमें हमें खास आपत्ति नहीं होनी चाहिए। किसीने कहा कि शादी के बाद हमारी बहनों के साथ उनके पति जो कुछ करेंगे, क्लब के सदस्य भी ज़्यादा से ज्यादा वही तो करेंगे। इसलिए उन्हें वहां न भेजने के पीछे कोई नैतिक कारण नहीं हो सकता। एक ने कहा, "हम भी तो बिना क्लब के सदस्य बने दूसरों की बहनें खुले आम छेड़ते हैं. . .अगर हमारी बहनों को कोई छेड़े और एवज में हमारी जिन्दगी बने तो हमें एतराज क्यों हो?"

आखिर तय हुआ कि हम सब अपनी बहनों को शहर के उम्दा क्लबों की सदस्याएं बनायेंगे और उनकी वाकफियत का फ़ायदा उठायेंगे।

एक हफ्ता बीत गया। एक महीना सरक गया। किसीकी बहन क्लब की मेम्बर नहीं बनी। काफी दिन तक हम दोस्त आपस में नहीं मिले। बाद में मिलने लगे तो भी उस बात की कतई चर्चा नहीं की।

एक दिन एक दोस्त ने कहा कि जीवित रहने के लिए कुछ न कुछ करना चाहिए। काफी सोचने के बाद निर्णय किया गया कि कारों के पुर्जे चुराकर बेचा करेंगे।

हम छह दोस्तों की मण्डली बनी। सारा कार्यक्रम तय किया गया। शहर में जहां भी कोई जलसा होता, हम वहां पहुंच जाते। मैं और एकाध साथी कारों के ड्राइवरों को बातों में लगा लेते। बाकी लोग पुर्जे चुराते। हमने सात-आठ बार यह धन्धा किया। चाय-पानी के पैसे भी कमाये।

लेकिन एक दिन वही हुआ जो हम जैसे अनाड़ियों के साथ होना था। तीन दोस्त पकड़े गये। उन्होंने घबराकर बाकी के भी नाम बता दिये। रात-भर थाने में हमारी पिटाई हुई। हाथ की तीन घड़ियां और दस-बारह रुपये, जो हमारे पास थे, ले लेने के बाद पुलिस ने हमें यह कहकर छोड़ दिया कि हम सभ्य परिवारों के लगते हैं। लेकिन शहर में खबर इधर-उधर फैल गयी थी और काफी अर्से तक जहां हम चाय पीने जाते, वहां के बैरे चम्मचों का खास ध्यान रखने लगे।

एक दिन मेरी मां ने पूछा, "तू कब तक इसी तरह आवारागर्दी करता रहेगा? कहीं कोई काम-धाम क्यों नहीं ढूंढ़ लेता? देखता नहीं घर पर जवान लड़कियां बैठी हुई हैं। और कितने दिन इन्हें बिठाये रखेगा?" मैं चिढ़ गया, "तो, मैं क्या करूं? कहीं नौकरी मिले और मैं न करूं तब न...?" मां बोली, "तो इतनी पढ़ाई काहे को की है? पड़ोस में तो इण्टर का लड़का लग गया है... और तू...।" मां का गला भर आया। मैं बोला, "उसने तो रिश्वत देकर नौकरी पायी है...साले देश-भर में लोगों ने गदर मचा रखी है...योग्यता तो देखते नहीं...हर बात के लिए रिश्वत...सिफारिश···मेरे पास कुछ भी तो नहीं...।" मां ने आवाज़ धीमी की, "तो तू क्यों नहीं कुछ दे देता...तेरे पिता जी के रुपये हैं दो-एक हजार...तू भी कोशिश कर...।" मैंने आवाज ऊंची की, "मैं मर-जाऊंगा और बेशक तुम लोग भी मर जाओ...मैं हर्गिज रिश्वत नहीं दूंगा...।"

मां कुछ और कहती कि मैं बाहर निकल आया। पार्क में बैठकर बहुत देर-तक सोचता रहा कि कहीं एक रिवाल्वर मिल जाये तो सभी अफसरों को गोली मार दूं...पहले उस ड्रामची को मारूंगा...। दुनिया को, देश को...हर उस आदमी को जो आराम की जिन्दगी जी रहा है।...तबाह करने की तरह-तरह की कल्पनाएं करता रहा। कुछ ठोस बात दिमाग में नहीं उभरी...चुपचाप, वहां से उठकर यारों की तलाश में टी-हाउस की तरफ चल दिया।

टी-हाउस में घुसते ही उसी ड्रामची पर नजर पड़ी। आज भी वह बैठा हुआ

था। साथ में उसकी बीवी और एक जवान लड़की भी थी। उसने मुझे देखा। बिल चुकाया, बाहर निकला गया। शायद वह मुझे देखकर घबरा गया था।

मैं भी उसके पीछे हो लिया। वह रेलिंग के पास खड़ा शायद टैक्सी का इन्तजार कर रहा था। मैं उसके पास पहुंचा। उसके रू-ब-रू खड़े होकर मैंने एक जोर का ठहाका लगाया। वह झेंप गया। उसकी बीवी और लड़की ने बारी-बारी से उसे और मुझे देखा। मैंने उसकी जवान लड़की की तरफ इशारा कर उससे पूछा, ''यह सुन्दरी आपकी सुपुत्री है ?'' वह डांटते हुए बोला, ''क्या बकवास कर रहे हो ?'' मैंने हंसकर कहा, ''देखिए, आप बुद्धिमान व्यक्ति हैं. . .हर साल पचासों लोगों का इण्टरव्यू लेते हैं। अगर मैं आपकी लड़की का ले लूं तो क्या हर्ज़ ?. . .अगर पसन्द आ जाये तो. . .।'' उसने आगे बढ़कर झपटकर मुझे पकड़ने का अभिनय किया। मैं उचककर परे हट गया। वह चिल्लाया, ''पुलिस. . . पुलिस !''

मैं जानता था, उसकी आवाज़ धीमी है, वह वाकई पुलिस के झंझट में नहीं पड़ना चाहेगा। मैंने दुबारा ठहाका लगाया और वहां से चल दिया।

थोड़ी देर चलकर मुझे रिक्तता-सी महसूस होने लगी। चौराहे पर खड़ा होकर सोचने लगा कि कहां चला जाये। कोई भी स्थान ध्यान में नहीं आया जहां चलकर खुद को थोड़ी देर के लिए व्यस्त रखा जा सके। मैं चुपचाप उस चौराहे पर खड़ा भीड़ के रेले को देखता रहा।

असंख्य लोग आ-जा रहे थे। कारों, टैक्सियों, स्कूटरों में लोग चुपचाप आगे सरक रहे थे। मैं गौर से देखने लगा कि दुबारा भीड़ में वह टोपीधारी नजर आ जाये अपनी बीवी और लड़की के साथ। ख्याल आया कि इस बार वह दिखाई पड़ेगा तो उसकी लाड़ली लड़की के गाल चूम लूंगा। झल्लाकर पुलिस को आवाज़ देगा और मैं वहां से हंसता हुआ चल दूंगा। मुझे इस विचार में मजा आने लगा। मैं वहीं खड़ा बड़ी ढूंढ़ती निगाहों से भीड़ को टटोलने लगा।

सड़क के दूसरे सिरे पर मेरे दो दोस्त जाते हुए नज़र आये। मैंने आवाज़ दी। मेरे आसपास के लोग चौंककर मुझे देखने लगे। मैं लपककर सड़क के दूसरी ओर चला गया। दोस्त भी खाली थे। हम तीनों वहीं खड़े हो गये, आती-जाती लड़कियों को देखते हुए। जो हमारे पास से गुजरती उसपर हम हल्की-सी आवाज कस देते।

थोड़ी देर बाद हम थक गये। चलकर पार्क में बैठ गये। एक दोस्त ने कहा, ''यार, एक बात सूझी है—यूनिवर्सिटी के पास गोलगप्पे की दुकान खोली जाये। लोग अपनी बहू-बेटियां बेचकर जिन्दगी बनाते हैं तो हमें इसमें शर्म क्यों हो ?'' 'दूसरे ने सलाह दी,' हां, मगर दुकान के तीनों तरफ हमारी डिग्रियां टंगी होंगी और दुकान का नाम होगा 'एम०ए० गोलगप्पा केन्द्र।. . .'' हम खूब हंसे। मैंने

सुझाया, "बीस रुपये खर्च कर इस बात का इश्तहार क्यों न किसी स्थानीय दैनिक में निकलवायें ? लोगों को पता तो चले।"

हमने वहीं बैठकर इश्तहार तैयार किया। सीधे चलकर एक दैनिक में दे आये। अखबार के व्यवस्थापन विभाग का क्लर्क हमारा परिचित था उसने जल्दी छपवाने का वादा किया। हमने उसी शाम सभी अखबारवालों को इश्तहार का बिल देने के लिए एक बहुत बड़ी दुकान से चार टाइयां, दो विदेशी ब्लेड के पैकेट और दो पैन चुराकर बेचे।

इश्तहार छपा। तीसरे-चौथे दिन अखबार में पाठकों के तीन-चार पत्र भी छपे। सारे पत्रों में हमारे प्रति सहानुभूति और सरकार के प्रति आक्रोश था। हमने कल्पना की कि वे पत्र विरोधी दलों के लोगों ने छपवाये होंगे।

हमने यह इरादा छोड़ दिया। इसमें भी हमें राजनीति की बू आने लगी।

यही कुछ था जो मैंने इन दो सालों में खास तौर पर किया। या ऐसे ही छिटपुट और काम। मैं नहीं समझता कि मैंने देश या संस्कृति या संविधान की अवहेलना करने का प्रयत्न किया हो।

मैंने शहर के प्रतिष्ठित लोगों को यही सब बताया। फिर भी वे कहते हैं कि मैं आवारा हो गया हूं।

सुभीते के लिए मैंने ये सारी बातें आपको बता दीं।

वैसे अब भी मैं कभी-कभी टी-हाउस की तरफ जाने से बाज नहीं आता हूं।
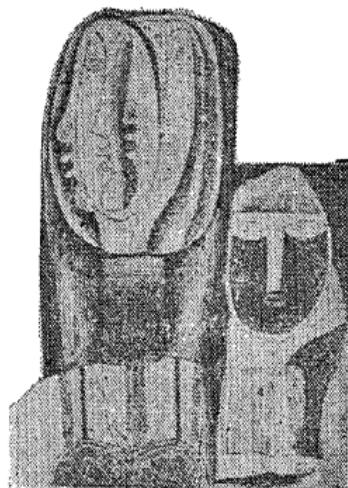
इतने अच्छे दिन···

कमलेश्वर

सचमुच इतने अच्छे दिन तो कभी नहीं आये थे।

पास में अगर हड्डी-गोदाम न होता, तो बहुत मुश्किल होती। सभी कुछ तो अच्छा था। तीन-चार गांव पास लगे हुए। सबके बीच में सूखे चरागाह। इतने सारे रिश्तेदारों के घर। तीन कोस पर बहती नदी। ऊंचे-नीचे टीलों वाला बियाबान। पास से जाती बस्ती की सड़क। खास सड़क पर रात में ट्रकों के रुकने का अड्डा। उस अड्डे से मील-भर बायें हड्डी-गोदाम। उससे भी तीन मील भीतर रेलगाड़ी का स्टेशन।

चारों गांवों में अगर इतने रिश्तेदार, ढोर-डंगर और जानवर न होते तो भी काम नहीं चलता। और बीस मील दूर शहर में चीनी मिलें न होतीं तो भी दिक्कत होती। सड़क ऊंचे-नीचे टीलों वाले बियाबान से न गुजरती, तब भी ठीक नहीं था।

घर में छोटी बहन कमली न होती, तो कैसे काम चलता! उस बियाबान से ट्रक न गुजरते होते, तो भी दिक्कत होती। और बन्तासिंह ट्रक-ड्राइवर अगर रात में कमली को उठा न ले जाता तो उसकी जिंदगी ही बरबाद हो जाती।

सब कुछ अच्छा ही हुआ था।

सबसे अच्छी बात तो यह हुई कि इलाके में लगातार हर तीसरे साल अकाल पड़ा। अकाल न पड़े तो घर-गांव का आदमी बाहर निकलता ही नहीं। जिनके अपने खेत हैं, वो तो बाहर हो आते हैं। जिनके खेत नहीं हैं, उनका तो कहीं कुछ भी नहीं है। खेत वालों के खेत पर मजूरी करना और वहीं गांव में पड़े-पड़े मर जाना। कहां कुछ और होता है !

कमली के लिए तो और भी अच्छा हुआ। वह कब कहां निकल पाती। बाला के लिए तो फिर भी ऐसा है कि एकाध गांव घूम आये। नदी तक हो आये। दर्जा पांच तक पढ़ने चले गये।

नदी तक बिना कहे-सुने बाला हो आये तो ठीक था। कह दिया तो मुश्किल होती थी। दादी उसे हटकने लगती थी—नदी पर मत जाया कर। जाये भी तो नहाना कभी मत। दादी बोलती थी तो पैर की उंगली में पड़े कांसे के छल्ले को घुमाती रहती थी। शायद वह उसके गड़ता था। दादा भी यही बोलता था।

वो दोनों मानते ही नहीं थे कि वह नदी तक जायेगा और नहायेगा नहीं। और बाला को नदी में उतरते हमेशा डर लगता था। ऊपर से दादी झूठ बोलती थी, "कहा न, पानी का रंग नहीं होता।"

बाला हमेशा कहता था, "दादी, मेरी बात सुन। मैं देख के आया हूं पानी का रंग लाल है। खून की तरह लाल !"

दादा ठठाकर हंस पड़ते थे, "कैसी बातें करता है रे. . .पानी का कोई रंग नहीं होता। तू नदी पर मत जाया कर। जाये भी तो नहाना कभी मत।"

दादा-दादी की ये बातें असल में अब बाला को याद आती हैं। हंसी भी आती है। उनके पास और बातें ही नहीं थीं। अपन के पास तो बहुत कुछ है। बहुत कुछ क्या, सभी कुछ है।

सर्दी कुछ साली ज्यादा ही थी। जिधर से कथरी उठ जाती, उधर से हवा अर्जुन के तीर की तरह लगती। कमली खिलखिला रही थी। उसे लगा. . .चलो सब ठीक है। कमली खुद तो नहीं पीती पर ड्राइवरों की शीशी में से दो-चार घूंट बचा के रख देती है। उसके लिए. . .और क्या चाहिए।

साला क्लीनर ज्यादा ही खुदर-बुदर मचाये हुए था। न सोता था न सोने देता था। बार-बार बीड़ी सुलगाता है। खांसता है। कथरी खींचता है। अबे, इतना जाड़ा लग रहा है तो मोबी आइल डाल के अलाव जला ले ! नींद तोड़ दी साले ने। कैसी मजे की नींद आती है यहां इस सराय में। कमली यहां है तो सब ट्रक वाले बस्तियां पार करते सीधे यहीं आते हैं।

ट्रक सराय के मालिक ने भी पूरा इन्तजाम कर रखा है। बड़ा-सा हाता घेर कर ट्रकों की सराय बना ली है। बाहर भी दस-बारह ट्रकों की जगह है। दिन में खाने की मेजें और बेंचें पड़ जाती हैं, रात को खटियां। थके-मांदे ड्राइवर

और क्लीनर दिन में भी आराम कर लेते हैं। पूरी रात गुजारने के लिए तो पूरा इन्तजाम है ही।

हर तरह का खाना। मुर्गा-शुर्गा खाना हो तो सामने दड़बे में से पसन्द करो। अपने सामने बनवाओ-पकवाओ और खाओ। बीड़ी-सिगरेट की कमी नहीं। ग्रामोफोन भी बजता ही है।

दांत खोदते-खोदते तसवीरें देखना चाहो तो पचासों लगी हैं। भगवान की तसवीरें अच्छी लगें तो उन्हें देखो। गुरुवाणी सुननी हो तो रिकार्ड सुनो। औरतों की तसवीरें देखनी हों तो वे भी लगी हैं। लुंगी-कच्छा धोना हो तो पटिया बिछी है, ट्यूब वेल लगा है, सुखाने के लिए तार बंधा है। दिशा-मैदान के लिए सूखे खेत पड़े हैं।

—अरे तू क्यों उठ के बैठ गया ? सबेरा होने में बहुत देर है, जाड़ा लगता है ? अपन को बता ! हेऽऽऽसाला बीड़ी सुलगा के खींचे जा रहा है। बीड़ी के जलते फूल में आंखें कैसी चमकती हैं कुत्तों की तरह—लखन क्लीनर की।

कुत्ता भी साला बड़ा भला जानवर है।

अकाल पड़ा तो भी नहीं भागे। वहीं गांव के बियाबान में लाशों को चींथते-चींथते मर गये। गिद्ध साला बहुत तेज होता है। चार-पांच कुत्ते न लगें तो एक गिद्ध को लाश पर से हटाना मुश्किल होता है।

"तू यहां आया कैसे ?" लखन ने पूछा।

"तू बीड़ी पी ले, अच्छी तरह खांस ले। बताता हूं !" बाला बोला था।

"हां, बता !"

"तो सुन ! तुझे नींद क्यों नहीं आ रही ? अच्छा-अच्छा सुन ! ये कमली मेरी बहन है न...एक शाम..."

"सच्ची !" और लखन कमली की बात पर ही अटक गया।

"अबे और क्या ?"

"कमली लड़की अच्छी है। समझदार है। ड्राइवर कहीं और रुकता है तो भी उसीकी बात करता है। एक रात ट्रक बिगड़ा तो पैदल लौटने को हुआ। तब हमींने ड्राइवर को समझाया...अब दस किलोमीटर है। कोई उधर जाता ट्रक ले लो, सबेरे लौट आना। मैं तो हूं, फिर लदे हुए सामान की जिम्मेदारी भी थी। सो वह नहीं गया।"

"अच्छा ! तो सुन...ये साला बोरा बहुत महक रहा है। पहले इसे हटा दें।"

"क्या है इसमें ?" लखन क्लीनर ने पूछा था।

"है ! साली हड्डियां हैं !"

लखन क्लीनर समझा नहीं, बीड़ी पीकर खांसने लगा। सर्दी में उठने

की हिम्मत नहीं पड़ी तो बोरे से आती बदबू को उसने सह लिया। क्लीनर बीड़ी पीता है तो बदबू दब जाती है। बीड़ी फेंककर क्लीनर ऊंघने लगा। अपने को क्या जरूरत पड़ी है किस्सा सुनाने की, सोओ साले. . .

सुबह उठते ही बबूल की टहनी तोड़कर बाला ने दातून की। लखन अब आराम से सो रहा था। उसे जल्दी नहीं थी। तभी एक ड्राइवर रजाई में भालू की तरह हिला। उसने उठकर तहमद बांधा और दोनों बांहें छाती से चिपकाये दिशा-मैदान के लिए चला गया।

लखन का ड्राइवर बंतासिंह पहले ही उठ गया था। वह मैदान से लौट रहा था। छप्पर में पड़ी कमली गठरी बनी सो रही थी। उसकी खाट के पाये पर बंतासिंह की पगड़ी अजगर की तरह लिपटी रखी थी।

जल्दी उसे भी थी। उसने बोरा उठाया और सिर पर लादकर हड्डी-गोदाम की ओर चल दिया। साला बोरा बहुत महकता है। पर दाम तो अच्छे देता है···कमली भी चार-पांच रुपये बना लेती है। एक-सवा रुपया बोरे-भर हड्डियों का मिल जाता है। छह रुपये रोजाना कौन कमाता है साला !

यह तो अच्छा हुआ कि चीनी मिलें खुल गयीं। और यह हड्डी गोदाम भी ! चीनी चमकाने के लिए शोरे की जरूरत पड़ती है। पता नहीं इन सूखी हड्डियों में से शोरा कहां से निकलता है। निकलता होगा. . .

गोदाम के तक पर बोरा फंसाकर उसने मोटी-सी गाली देकर चंदू को पुकारा, "तौल कर. . .यह साली सर्दी. . ."

चंदू कहीं दिखायी नहीं पड़ा। फिर गोदाम में भरी टनों हड्डियों के बीच से आता वह दिखायी पड़ा जैसे पिंजर उठकर चला आ रहा हो। आते ही उसने खीसें निपोर दीं।

"आज सबेरे-सबेरे आ गया. . .बाला. . ."

"शाम देर हो गयी थी।"

"कमली ठीक है ?"

वह उसका मतलब समझ गया। चंदू के दिल में एक फांस है। नहीं तो पूछने की क्या जरूरत थी ? तक के दूसरे पल्ले पर बाट पटकते हुए चंदू ने फिर कहा, "ये दिन पहले आ जाते तो काहे हम तीन से दो रह जाते !"

चंदू का कहना तो ठीक था। पर तब यह सब व्यापार शुरू कहां हुआ था ? इसीलिए तो उसने समझा दिया था "देख चंदू, तू कमली की लगन मन से निकाल दे...खाने को दो के लिए नहीं है तो तीन के लिए कहां से आयेगा ?"

अगर यह अकाल पहले ही पड़ गया होता और हड्डियों का धन्धा शुरू हो

गया होता तो कौन-सी दिक्कत थी !

वह यही सब सोच रहा था कि चंदू ने तौल करके बोरा नीचे पटक दिया। चन्दू के मन में बाला के लिए खयाल था। धीरे से बोला "इंगरेजी जमाने की एक कबरगाह तीन मील उत्तर में है। कबरों के पत्थर तो सब खोद ले गये, हड्डियां दबी पड़ी हैं, उन्हें खोद ला !"

"उनमें से शोरा निकालेगा ?" बाला ने पूछा था।

"सब चीज में मिलावट होती है। हड्डियों में भी मिला देंगे !" आंख दबाकर चन्दू ने कहा था।

साला ! बाला के मुंह से मन ही मन गाली निकली थी। देना चाहे तो एक के पांच रुपये भी दे सकता है। वह नहीं करेगा, पर यह सब बताकर अपनापन जतायेगा। पैसे लेकर वह चला आया था।

लेकिन चन्दू ने कबरगाह की ठीक और सही खबर दी थी। हड्डियां ताजी तो नहीं थीं, पर जैसे कोयले की खान हाथ आ गयी थी ! जहां खोदो वहीं हड्डियां निकलती थीं ! उसे लगा था, ऐसी दो-चार खानें और हाथ आ जायें तो जिंदगी ही बदल जाये ! आदमी अच्छा है चंदू !

पर पुरानी हड्डियों से ज्यादा चला नहीं।

असल में जब तीसरे साल भी अकाल पड़ा, तब बाला को होश आया था। अपने रिश्तेदारों की हड्डियां कितनी कीमती हैं ! अपने रिश्तेदारों के ढोर-डंगरों की हड्डियां कितनी कीमती हैं, हड्डियों के लिए तब महाभारत मचा था। लोग पहरा लगाने लगे थे. . .ये हमारे रिश्तेदारों की हड्डियां हैं. . .ये उनके ढोर-डंगरों की हड्डियां हैं ! इनपर हमारा हक है !

तब बाला ने जमकर लड़ाई लड़ी थी। गांव-गांव में और आस-पास रहते रिश्तेदारों की हड्डियों के लिए वह लड़ता था। ढोर-डंगरों के पिंजरों के लिए उसने लड़ाई की थी।

तभी दादा और दादी मरे थे। आठ दिनों की दूरी पर। और सत्ताइसवें दिन बापू मरा था। अम्मा तो आठ साल पहले ही मर गयी थी। बापू ने बहुत कहा था पर बाला नहीं माना था कि दादा की लाश को जलाया जाये !

"जलाने से क्या मिलेगा ?" बाला बापू पर चीखा था।

और बापू चीखा था, "अरे कमीने ! तू हड्डियां भी बेच खायेगा ! ऐसी औलाद से तो निपूता ही मरता !"

बापू ने जो कुछ कहा हो। पर ये दिन कैसे आते अगर बापू की बात मान लेता। खाने को क्या था ? जीने को क्या था ? सब तरफ तो धरती झुलसी पड़ी थी।

तभी तो उसने तय किया था कि झुलसी-तपती धरती के नीचे अगर लाश दबा दी जायेगी तो हड्डियां जल्दी साफ हो जायेंगी। गिद्ध और कुत्ते साफ करने में देर लगायेंगे। इधर-उधर खींच के भी ले जायेंगे। पर रात में कोई हड्डियां खोद न ले जाये, इसीके लिए तो उसने कमली को पहरे पर लगाया था। और वहीं से, सड़क किनारे से बंतासिंह उसे उठा ले गया था।

यह भी अच्छा ही हुआ था। अच्छे दिन आते हैं तो एकसाथ आते हैं। जब बाला को पता चला था कि कमली ट्रकों की सराय में है तो वह गया था। बापू उस वक्त जिंदा तो था, पर इतना जिंदा नहीं कि सराय तक आ पाता। वह भूख से धीरे-धीरे मर रहा था। पर फिर भी जीने का कोई और रास्ता खोजने के लिए तैयार नहीं था। असल में यह बहुत भीतरी इलाका था जहां तक सरकारी मदद भी नहीं पहुंच पायी थी। जैसे खेत में सरकारी पानी जाता है न, जिस तक पहुंचा, पहुंच गया, उसके बाद. . .

होना वही था, बापू को भी मरना था।

पहले दादा मरा, उसके बाद दादी, उसके बाद बापू ! रिश्तेदार और उनके ढोर-डंगर तो मर ही रहे थे।

पर तब तक बापू नहीं मरा था। शायद उसके मरने से एक दिन पहले की बात है। बाला जानवरों की हड्डियां बटोर रहा था गिद्धों और कुत्तों के बीच। साले घसीट-घसीटकर बहुत दूर ले जाते हैं।

तब कमली उसे खोजती आयी थी। वह बाला को गिद्धों और कुत्तों के जमघट के बीच खोज ही नहीं पायी थी। उनके बीच वह घुटने मोड़े गिद्ध की तरह ही बैठा था—साफ हो गयी हड्डियों को बीनता हुआ।

जब दादी की लाश तपती जमीन के नीचे दबाने गया था तो कमली ने कहा भी था, "दादी के पैर की उंगली में पड़ा चांदी का छल्ला निकाल ले !"

"चांदी नहीं, कांसा है !" उसने परखकर जवाब दे दिया था। कमली इतना जानती भी नहीं थी। कांसा ही होगा।

भला हो चीनी मिलों और बंतासिंह का। ये दोनों न होते तो ये दिन कैसे आते ? हड्डियों की खदानें वह क्यों खोदता ? कमली ट्रकों की सराय में इतने आराम से क्यों रहती ?

यह साला चंदू तो पागल है जो अब भी कहीं कमली की लगन लगाये बैठा है। जो कुछ कमली औरों से पाती है, वह चंदू से तो मिलने से रहा ! होगा वही, जो अब होता है, पर ऊपर से चन्दू को खिलाना और पड़ेगा !

यही सब सोचता-सोचता वह हड्डियों की खदानों की ओर चला गया था। सात-आठ दिन तो इतना काम रहा कि फुर्सत ही नहीं मिली। बोरा भर-भरकर पहुंचाता रहा। चन्दू तौलता रहा और कमली की बात करता रहा, पर साले ने

न तौल में साथ दिया न पैसे में ! है साला कमीना !

हड्डियों की खदानों से वह आठ दिन बाद लौटा था। रात को। कमली काम से थी। वह कथरी ओढ़कर लेट गया था। सिरहाने रखा हड्डियों का बोरा बहुत बुरी तरह महक रहा था। कमली कुलबुला रही थी। उसने पास जाकर पूछा था, "कौन है ?"

"बस्ती का लाला है !" कमली ने कहा था।

"इस साले से दस लेना !" कहते हुए बाला अपनी खाट पर आ गया था। कुछ ही देर बाद सब कुछ शांत हो गया था। यह अच्छा था। बस्ती का लाला जब भी आता था, शुरू में शोर ज्यादा मचाता था, पर आधे घंटे बाद ही सो जाता था। ड्राइवर तो रात-भर हंगामा करते थे। कमली भी बुरी तरह थक जाती थी और दूसरे दिन सोती रहती थी।

कमली तो सो गयी, पर उसे नींद नहीं आ रही थी। उस बोरे के कारण। मन बहुत उचटा हुआ था। रह-रह कर दादी की याद आ रही थी।

आज सर्दी भी बहुत थी और वह गांव के पास वाले ऊंचे-नीचे बियाबान टीले से दादी की हड्डियां खोदकर लाया था।

कमली ने तो रात काट ली थी, पर वह अपनी रात नहीं काट पा रहा था... सड़क से ट्रक आ-जा रहे थे। कुछेक सराय पर रुक भी रहे थे।

कड़कड़ाती सर्दी और अर्जुन के तीर की तरह चलती हवा ! नीम भी बड़बड़ा रहा था। अंधेरा इतना गहरा कि उठने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी।

मन तो हुआ कि कमली को जाके जगाये और कहे... कमली ! दादी की हड्डियां इसी बोरे में हैं ! बहुत महक रही हैं। इस महक के कारण सो नहीं पा रहा हूं।

पर कमली थककर सोयी थी। बस्ती वाला लाला भी पड़ा था।

उसने आंखें बन्द कर सोने की कोशिश की। एक पल के लिए नींद आयी थी कि तभी कोई ड्राइवर चीखा था, "अबे ओए, दीना, चल !"

दीना सोता-ऊंघता जाकर ठंडी गद्दी पर अधलेटा हो गया था, और वह ट्रक गुर्राकर चालू हुआ था और फिर हाथी की तरह झूमता सड़क पर जाकर कोहरे में खो गया था। कथरी ओढ़कर वह खाट पर बैठ गया था और सड़क पर भरे कोहरे को देखता रहा था। चारों तरफ सन्नाटा था। मुर्गे तक दड़बे में चुप थे। कासनी फूलों की बेल पेट्रोल पंप की गुमटी के सहारे कांप रही थी। सन-सनाती हवा। मुंह से निकलती भाप। ठिठुरे हुए पेड़। सामने फैले मैदान में रोंगटों की तरह खड़ी हुई घास।

बाला ने फिर लेटने की कोशिश की। लेट भी गया। पर नींद नहीं आयी। दादी ! नाराज मत होना. . .यह दिन तू भी देख लेती तो शायद कुछ आराम से मरती। अब कमली भी बच गयी है और अपन भी। व्यापार भी चल निकला है। यह अकाल न पड़ता और इतने ढोर-डंगर, नाते-रिश्तेदार न मरते तो अपन का भी वही हाल होता।

भला हो हड्डी-गोदाम का। चन्दू वहीं लग गया है। कमली भी समझदार हो गयी है, दादी। अपन से उसने बात की थी—कहने लगी . . . चन्दू से कह दे क्या फायदा ? घर बसाऊंगी तो लौट के वहीं गांव के बाहर झोंपड़ी डालनी होगी। कुआं सूखेगा तो फिर इधर ही भागना पड़ेगा। तब एक-एक लोटे पानी के लिए बाह्मन-ठाकुर छोड़ देंगे क्या ? अकाल तो हम लोगों के लिए पड़ता है, बाकी सबके पास तो बरसों के लिए दाना है, पानी है. . .यहां कोई यह तो नहीं पूछता, कौन जात है ! अपनी जरूरत से लोग आते हैं ! कल नहीं आयेंगे तो इसी सराय के बर्तन-भांडे मांज-धोकर चलता रहेगा। ऐसे दिन बार-बार हाथ नहीं आते. . .चन्दू से कह दे, क्या फायदा. . .

कमली बहुत समझदार हो गयी है, दादी ! तू सुन रही है न ! अर्जुन का तीर फिर लगा तो उसने कसकर कथरी लपेटी। पता नहीं कब उठके फिर बैठ गया था। कोहरे की गुफा से एक ट्रक निकलकर फिर कोहरे की गुफा में घुस गया। कुछ देर तक आवाज बजती रही।

बाला उठा। कमली को जगा ले। पर. . .

तभी उसके लिहाफ में हलचल और कुनमुनाहट हुई। लाला लिहाफ से निकल सुड़सुड़ाता हुआ खड़ा हो गया। कमली बोली, "लेटा रह. . .बहुत जाड़ा है !"

लेकिन लाला को अंधेरे-अंधेरे निकल जाना होता है। रात कहीं भी निकले, पर उसका दिन बस्ती में ही निकलता है। टोपा चढ़ाकर, चादर लपेटकर लाला पगडंडी पकड़कर बस्ती की ओर चला गया।

बाला वैसा ही बैठा रहा। बोरे की तरफ देखता हुआ। कमली की भरक टूट गयी थी। शायद उसने लिहाफ के भीतर से देखा होगा। वह पास आके खड़ी हो गयी थी, "अरे बाला ! तू अभी तक जाग रहा है ?"

"नींद नहीं आ रही !"

"थोड़ी-सी उधर पड़ी है अद्धे में। पी ले। भरक मिल जायेगी. . .सो जा. . . सो जा।" कहते हुए कमली अपनी खाट की तरफ जाने लगी थी।

"सुन !" बाला ने कहा था।

"बोल !"

"दादी सोने नहीं दे रही है !"

"दादी !" कमली ने ताज्जुब थे कहा था।

"हां. . . उसकी काया इसमें बैठी है. . .बोरे में !" बाला ने कहा था. . .

"अरे हट् !" कमली ने झिड़क दिया था।

"कमली ! वो तो अच्छा हुआ कि कोई और खोदकर नहीं ले गया। अपन ही पहुंचे खदान पर. . .पूरा पिंजर निकला !"

"ऐसे कह रहा है जैसे पहचान लिया हो !" कहते हुए कमली उसीकी खाट पर आधी कथरी ओढ़कर बैठ गयी।

"दादी के पैर की अंगुली में वो कांसे का छल्ला अब भी पड़ा है।" बाला ने कहा तो कमली आगे नहीं बोली। बोरे की तरफ देखती रही।

पेट्रोल के दोनों पंप सफेद रजाई ओढ़े कानों में उंगली डाले खड़े थे। छप्पर के बांसों में लटके टायर पुतली निकली आंख के कोटर की तरह देख रहे थे। सड़क-किनारे खड़े नीम के पेड़ों की गर्दनें कोहरे की तलवार ने काट दी थीं। ट्यूबवेल के ठंडे पाइप की बांह कच्ची गुमटी की कमर में लिपटी हुई थी और वे दोनों वहीं खाट पर चुपचाप बैठे थे। जाड़ा बरस रहा था। अब दोनों को नींद नहीं थी। वक्त का कुछ अंदाजा नहीं था।

घुटनों पर बांहें मोड़े, ठोड़ी टिकाये कमली बैठी थी। पाटी का सहारा लिये बाला अधलेटा था। तभी सामने, दूर कोहरे के टुकड़ों के पीछे काले आकाश में कुछ हलचल-सी हुई थी। काले बादल की लोहे की किनारी थोड़ी-सी चमकी थी. . .जैसे उसके पीछे आग की भट्टी की एक दहकती लपट उठी हो। पर फिर लोहा ठंडा पड़ गया था। एक पल बाद काले लोहे की कई किनारियों पर लपट के आसार दिखायी दिये थे. . .फिर वे बुझ गये थे। पर भट्टी शायद बराबर धधक रही थी। गड़िया लुहारों का कोई पड़ाव आसमान के पीछे है क्या ? धौंकनी चल रही थी और आग बढ़ रही थी। धीरे-धीरे लोहे की किनारियां पीली पड़ गयी थीं. . .जगह-जगह बादलों के ओठ नीले हो गये थे। कोहरे के चकत्ते आग ने सोख लिये थे। आसमान में जगह-जगह चीरा लग गया था। तब घास के खड़े रोंगटे सुरमई से सुनहरे हुए थे और गर्दनकटे पेड़ों के सिर नजर आने लगे थे।

बाला कसमसाकर सीधा बैठ गया था।

कमली ने पूछा था, "ये हड्डियां गोदाम ले जायेगा ?"

"हां !" बाला बोला था।

"सुन, बाला. . .इन्हें नदी में सिरा दे !"

बाला अचकचा कर रह गया। यही कुछ तो, कुछ इसी तरह की बात तो वह भी सोच रहा था, पर यह नहीं सोच पाया था कि दादी की काया को नदी में

सिरा आये।

"ठीक है न!" कमली ने कहा..."बुरे दिन होते तो दूसरी बात थी। गोदाम में ही दे आता।..."

"हां !" वह बोला ..."तड़के-तड़के निकल जाता हूं ... नदी दूर है। दिन चढ़े तक लौट आऊंगा।"

और वह बोरा उठाकर सड़क पार करके मैदान में उतर गया था, उस पगडंडी पर जो नदी की ओर जाती थी। कमली उसे तब तक देखती रही थी, जब तक वह पेड़ों के झुरमुट के पीछे अलोप नहीं हो गया था।

कमली जाकर अपनी रजाई में गठरी बन के लेट गयी थी। आदमी साथ होता है तो टांगें पसार कर सोने में भी उतनी सर्दी नहीं लगती। भरक मिलती रहती है। पर नींद बुरी तरह घिर रही थी ! लेटते ही उसे नींद आ गयी। बहुत गहरी नींद।

यह पता ही नहीं चला कि दिन पूरी तरह कब निकल आया, शोर कब होने लगा। चारों तरफ जिंदगी अपनी रफ्तार पर आ गयी थी। दरबे में मुर्गे कुड़-कुड़ाने लगे थे। कुत्ते पेट्रोल पंप और सड़क तक दौड़ रहे थे। ट्रक-सराय की लंबी मेजें धुल गयी थीं। सब्जियां कट रही थीं। अंगीठियां जल गयी थीं।

रात को रुके हुए ट्रक वाले चाय पी-पीकर सफर पर निकल गये थे। ट्यूब-वेल धक-धक कर रहा था। वल्कनाइजर के छप्पर में मशीन पर रबर का टांका लगाने वाले लड़के आ गये थे। सराय के मालिक ने जपुजी का रिकार्ड लगा दिया था। अगरबत्तियों की महक फैली हुई थी।

कमली नींद की मारी थी।

बाला लौटा, तब भी वह सो रही थी। आते ही उसने जगाया। आंखें मलते-मलते कमली ने पूछा, "सिरा आया !"

"हां !" उसके दांत अब भी कटकटा रहे थे। अर्जुन के तीर तो चल ही रहे थे।

"अच्छा हुआ !" कमली बोली।

"तुझे याद है, दादी से अपन ने हमेशा कहा—दादी, मेरी बात सुन ! मैं देख के आया हूं। पानी का रंग लाल है। खून की तरह लाल ! दादी मानती नहीं थी। जिद करती थी...पानी का रंग नहीं होता ! सो आज उसकी काया सिराते हुए अपन ने उससे कहा...ले दादी ! आज देख ले।"

कमली ने उसकी तरफ भर-आंख देखा और चूड़ी सरकाते हुए बांहों को भरकाने लगी। उसके चेहरे पर रात का बासापन था, या शायद ठंडक की सफेदी। वह अपने गालों को रगड़ने लगी तो बाला ने देखा...उसके बायें गाल

की सांवली चमड़ी पर खून की एक सूखी बूंद चिपकी हुई है। वह उसपर अंगुली फिराने लगी तो बाला ने पूछा, "क्या हुआ ? उस साले लाला ने फिर काटा इतने जोर से ?"

"नहीं !" कमली ने मामूली तरह से कहा। "उसका वो एक दांत सोने का है न, वही गड़ जाता है !" कहते-कहते वह ट्यूबवेल की तरफ मुंह धोने के लिए चली गयी।
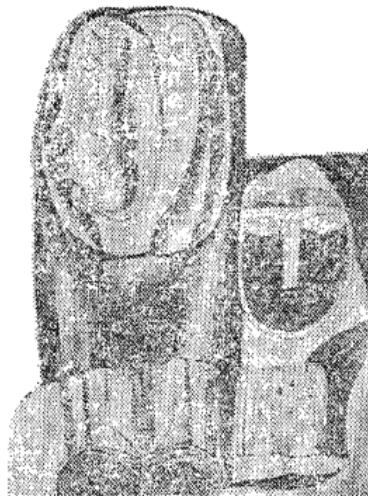
लडके

कामतानाथ

वे चार थे।

लगभग एक घंटे तक वे कनाट प्लेस के चक्कर लगाते रहे। आती-जाती महिलाओं के शरीरों का अध्ययन करते रहे। एक बार एक महिला के पीछे काफी दूर तक आपस में यह निश्चय करने के उद्देश्य से चलते रहे कि यह आर्टिफिशियल हिप्स लगाये है या नहीं। कई स्थानों पर कारीडोर में लगी हुई पुस्तकों की दुकानों पर रुककर सस्ते साहित्य और नग्न स्त्रियों के चित्रों वाली विदेशी पत्रिकाओं के पृष्ठ उलटते रहे। इस बीच वे बराबर सिगरेट पी रहे थे और उनकी बातचीत स्त्रियों के विषय तक सीमित थी। कहीं कोई विदेशी गोरी महिला दिख जाती तो देर तक वे उसके वक्ष और पिंडलियों की सराहना करते रहते।

जब यह सब करते-करते वे थक गये तो रीगल में आकर सिनेमा के स्टिल्स देखने लगे। दीवार में आदमकद शीशे के सामने खड़े होकर बारी-बारी से उन्होंने अपने बालों में कंघी की तथा हाथ से दबाकर उन्हें सेट किया। एक-दो ने जेब से गंदा कपड़ा निकालकर जूतों की गर्द भी साफ की।

"अब हम ज्यूक बाक्स की म्यूजिक सुनेंगे और एस्प्रेसो कॉफी पियेंगे।" उनमें से एक ने कहा।

रोज ही उनमें से एक यह प्रस्ताव रखता था। उनमें

आपस में एक अप्रत्यक्ष समझौता-सा था कि बारी-बारी से हर दिन एक व्यक्ति यह प्रस्ताव रखेगा और उस दिन वही बिल अदा करेगा।

लिफ्ट से वे 'स्टैंडर्ड' में ऊपर चढ़ आये। दीवारों में लगे आइनों में अपनी शक्लों पर एक सरसरी दृष्टि डालते हुए वे कॉफी हाल में आ गये और छांटकर उस टेबल पर बैठे जिसके निकट एक दूसरी टेबल पर दो लड़कियां बैठी थीं। उन्होंने अपनी पतलूनों की क्रीज ठीक की और वेटर के आने की प्रतीक्षा करने लगे।

एक ने जेब से सिगरेट का पैकेट और लाइटर निकालकर मेज पर रख दिया। सबने बारी-बारी से सिगरेटें निकालीं और उन्हें सुलगाकर वे उस समय का उपयोग करने लगे जो उनके मेज पर आकर बैठने और वेटर के आने के बीच गुजरना था।

कुछ ही दूरी पर बैठी उन लड़कियों को वे कनखियों से देख रहे थे। कोई अन्य विषय न पाकर, उन्होंने उन्हींपर वार्तालाप शुरू कर दिया। अनुभवी मनो-वैज्ञानिकों के समान उन्होंने उनके चरित्र और व्यक्तित्व पर बारी-बारी से अपनी राय व्यक्त की। चारों इस बात पर सहमत थे कि वे गिरे चरित्र की हैं। हां, उनकी 'फीस' के बारे में उनमें मतभेद था। एक का मत था कि पूरी रात के लिए वे कम से कम सौ रुपये लेंगी। दूसरा उसको अनाड़ी ठहरा रहा था। उसकी राय में बीस से अधिक नहीं हो सकता था। तीसरे की एप्रोच सब्जेक्टिव थी। मैं दस भी नहीं दे सकता, वह कह रहा था। चौथा तीस के आसपास अनुमान लगा रहा था।

इस बीच उनमें से एक उठकर ज्यूक बाक्स में चवन्नी डाल आया और उससे एल्विस प्रिजली के एक पुराने गाने का रिकार्ड बजने लगा। "एल्विस अब आउट-आफ डेट हो गया है।" उनमें से एक ने कहा।

"मुझे वह कभी पसन्द नहीं आया।" दूसरे ने कहा।

जिसने ज्यूक बाक्स में चवन्नी डाली थी, वह कह रहा था कि एल्विस उसे भी विशेष पसन्द नहीं है, परन्तु उसका यह गाना उसे अच्छा लगता है।

अब वे अंग्रेजी में बातें कर रहे थे।

"तुमने अपने लिए नहीं, इनके लिए शायद यह रिकार्ड लगाया है।" चौथे ने उन लड़कियों की ओर इशारा करते हुए कहा।

वे सब एकसाथ हंस पड़े।

बैरा आकर गिलासों में पानी रख चुका था। उन्होंने चार एस्प्रेसो का आर्डर दिया और पानी पीने लगे।

थोड़ी देर में कॉफी आ गयी और वे कॉफी के घूंट लेने लगे। उन लड़कियों और अंग्रेजी म्यूजिक को छोड़कर अब उन्होंने ट्रांजिस्टरों के बारे में बातें करनी

शुरू कर दीं। किसी भी विषय पर, चाहे वह लड़की ही क्यों न हो, गंभीरतापूर्वक सोचना उन्हें पसन्द न था।

'बुश', 'नेशनल एको', 'फिलिप्स' आदि सभी प्रकार के ट्रांजिस्टरों के नाम लिये उन्होंने। उनमें से एक ने कहा कि उसके कजिन अमरीका से एक बहुत सुन्दर ट्रांजिस्टर लाये हैं, केवल तीन डालर में।

"अमरीकी से अच्छे जापानी ट्रांजिस्टर होते हैं", दूसरे ने उसका प्रतिवाद किया। "मेरे एक मित्र के पास एक ऐसा जापानी ट्रांजिस्टर है जो माचिस की डिब्बी से अधिक बड़ा नहीं है।" उसने कहा। उसकी बात प्रभावपूर्ण थी।

वे लड़कियां उठकर जाने लगीं तो चारों की दृष्टि एकसाथ उस ओर मुड़ गयी और जब तक वे दरवाजे के बाहर नहीं निकल गयीं, वे उसी ओर देखतेरहे।

ट्रांजिस्टर पर बात शुरू होकर न जाने कब कैमरे पर आ गयी। रोलीफ्लैक्स, रोलीकार्ड, याशिका और सभी प्रकार के कैमरों पर उन्होंने बहस की। उनमें से एक के पास रोलीफ्लैक्स था, उसने बताया। और उसके दोस्त के पास तो लाइ-टर कैमरा है, उसने कहा, बिलकुल वैसा, जैसा 'रोमन हॉली-डे' में ग्रेगरी पैक के मित्र के पाम होता है।

उन्होंने प्रोग्राम बनाया कि वे किसी दिन पिकनिक पर निकलेंगे, कुतुब की ओर। या फिर न होगा तो ताज एक्सप्रेस से आगरा निकल जायेंगे और वहीं फोटोग्राफी की जायेगी।

कॉफी पीकर वे बाहर निकल आये। बाहर निकलने से पहले वे इकट्ठे बाथ-रूम गये और दुबारा उन्होंने अपने-अपने बाल संवारे।

बाहर निकलकर वे फिर सड़क पर टहलने लगे। टहलते-टहलते वे जनपथ की ओर निकल आये।

और फुटपाथ पर लगी तिब्बती दुकानदारों की दुकानों का निरीक्षण करने लगे। वे कांसे की मूर्तियां, मूंगे और पत्थर का सामान बेच रहे थे। बारी-बारी से वे लगभग हर उस दुकान पर गये जिसपर कोई जवान स्त्री या लड़की बैठी थी। सामान की अपेक्षा वे उन बेचने वालियों की ओर अधिक गौर कर रहे थे।

वहां से वे फिर वापस हैंडीक्राफ्ट मार्केट आ गये। उसके अन्दर जाकर उन्होंने हर सेल्स-गर्ल को देखा। एक-आध वस्तुओं के दाम पूछे और फिर बाहर आ गये। एक सेल्स-गर्ल के बारे में उनमें से एक ने बताया कि उसके साथ उसके एक मित्र का अफेयर चल चुका है और वह उसका विवरण बताने लगा।

सेल्स-गर्ल की बात आयी तो वे इंग्लैंड में सेल्स-गर्ल्स के बारे में बातें करने लगे। वहां तो खुली छूट है, एक ने कहा, आप स्वतंत्रता से जाकर उन्हें शाम की चाय पर या पिक्चर के लिए इन्वाइट कर सकते हैं। भारतीयों को वे पसन्द भी करती हैं, उसने बताया।

"भारतीयों को नहीं, कलर्ड्स को, विशेषकर नीग्रोज़ को," एक दूसरे ने उसे सही किया।

"वहां तो सुना है हर लैम्पपोस्ट के नीचे एक लड़की खड़ी रहती है। उनके पास कमरों का भी प्रबन्ध होता है।" तीसरे ने कहा।

"यहां भी मिलती हैं। केवल अनुभव होना चाहिए।" किसी अन्य ने उत्तर दिया।

वे कर्जन रोड की ओर आ गये थे।

"हम इंडिया गेट क्यों न चलें ?" एक ने प्रस्ताव रखा।

यह सभीको मान्य था।

अत: वे इण्डिया गेट की ओर बढ़ गये। उनकी निगाहें सड़क पर चलते स्कूटरों और टैक्सियों के अन्दर बैठे व्यक्तियों पर पड़ रही थीं। जब कभी उनमें कोई जोड़ा या कोई अकेली स्त्री दिखाई दे जाती, वे देर तक उस ओर देखते रहते।

इण्डिया गेट पहुंचकर वे लॉन पर टहलने लगे। एक ओर सड़क के किनारे एक स्कूटर खड़ा था। वे उसी ओर बढ़ गये। वहीं निकट ही घास पर एक जोड़ा बैठा था। वे आपस में काफी सटे बैठे थे।

वे उनसे कुछ दूर हटकर घास पर बैठकर सिगरेटें पीने लगे। चारों इस बात पर सहमत हुए कि वह जोड़ा पति-पत्नी नहीं है।

तभी कुछ ही देर बाद दोनों स्त्री-पुरुष वहां से उठ पड़े। हाथ में हाथ डालकर टहलते हुए वे स्कूटर तक आये। पुरुष ने स्कूटर में चाभी लगाकर उसे स्टार्ट किया। स्टार्ट होते ही स्त्री भी उसके पीछे बैठ गयी। अपना हाथ उसने पुरुष की कमर में डाल दिया।

भर्रर्र की आवाज़ करता स्कूटर पन्तनगर वाली सड़क पर मुड़ गया।

चारों कुछ देर वहां और बैठे, फिर उठ पड़े और थके क़दमों से कनाट प्लेस की ओर वापस आ गये। कनाट प्लेस पहुंचकर उन्होंने फिर एक-दूसरे को याद दिलाया कि कल शाम वे फिर यहां मिल रहे हैं, और अलग-अलग बस स्टापों पर अपनी-अपनी बसें पकड़ने के लिए चल दिये।

जंगल

जितेंद्र भाटिया
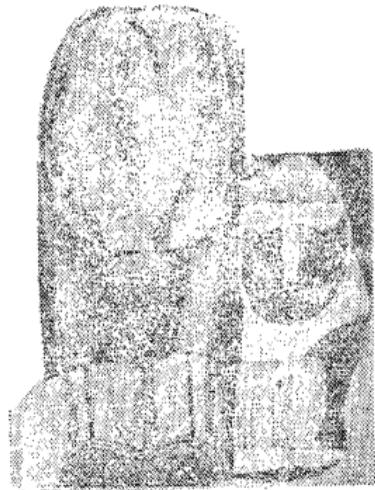
चलते-चलते मैं आखिरकार उस शहर में पहुंचा जहां हवा में एक सर्द-सी चुभन थी और लोगों के चेहरे संगमरमर की तरह चमकदार, सफेद नजर आ रहे थे। उस जगह के चारों ओर एक खाई में समुद्र फैला था और पेड़ों पर 'विक्ट्री' की उंगलियों वाले पोस्टर टंगे थे। "यह बहुत तरक्कीपसंद शहर है और तुम जैसे पिछड़े हुए आदमी को यहां रहने की इजाजत हरगिज नहीं मिल सकेगी," शहर के चारों ओर खिंची ऑस्टेनाइट स्टील की दीवार में बने फाइबरग्लास के दरवाजे पर बैठे गोरे पहरेदार ने मुझे बताया और उसके बाद वह अपने साथी 'रोबो' के साथ 'बैकगैमंस' का राउंड खत्म करने में व्यस्त हो गया। पहरेदार की व्यस्तता का फायदा उठाकर मैं खामोश कदमों से फाइबरग्लास के उस दरवाजे से होता हुआ दूसरी तरफ दौड़ आया जहां एक बड़ा-सा हवाई अड्डा था, जिसके एक सिरे पर आई० बी० एम० के कंप्यूटरों की कतारों की कतारें लगी थीं और दूसरी ओर बीस-पच्चीस कंकॉर्ड-१७ हवाई जहाज खूंटों से बंधे थे। मेरे इस ओर आते ही दरवाजे के करीब के दो-तीन 'डिजिटल्स' में से अजीब-सी आवाजें निकलने लगीं और पंद्रह-बीस सेकंड बाद ही मैंने पाया कि हवाई अड्डे के तमाम ऑडियो-वीडियो सिस्टम्स पर मेरे नाम की घोषणा की जा रही है। "तुम कहीं

वही काले आदमी तो नहीं जिसकी सब जगह तलाश हो रही है ?" मुझे एक संकरी गली में चोरों की तरह दुबकता देखकर एक अधेड़-सी दिखने वाली औरत ने मुझसे पूछा।

"नहीं", मैंने उत्तर दिया, "आपको गलतफहमी हुई है। "मैं तो सिटी स्क्वायर पर खूनी माल्टे बेचता हूं।"

"ओ, मैं सचमुच बहुत शर्मिंदा हूं !" वह औरत अदब से मेरी ओर झुकी और फिर बड़बड़ाती हुई आगे निकल गयी। उसके चले जाने के बाद मैंने खुश होकर अपनी पीठ थपथपायी और फिर से शहर की मुख्य सड़क पर आ गया। दरअसल, सिटी स्क्वायर पर खूनी माल्टे बेचने की बात मैंने किसी पुराने विदेशी उपन्यास में पढ़ी थी।

सड़क पर भीड़ थी। वाउलर हैट और सूट पहने भद्रपुरुष, कीमती पोशाकों में सजी महिलाएं और ऐस्ट्रोनाट सूट्स में बच्चे, सब किसी भारी व्यस्तता के बोझ तले दबे, हड़बड़ाये हुए-से भागते चले जा रहे थे। चेहरों की इतनी भीड़ में मुझे अपने-आपको सुरक्षित महसूस करना चाहिए था, परन्तु मैं हल्का होने की जगह एक अनाम-से भय में डूबता चला गया, वे सब मुझ जैसे नहीं थे। उनकी भीड़ में कोई भी आसानी से मेरी ओर उंगली उठाकर मुझे अजनबी घोषित कर सकता था।

उसी सड़क पर कुछ फासला तय करने के बाद मुझे छापेखानों की आवाजें आने लगीं। बड़ी-बड़ी बिल्डिंगों में कैद दैत्याकार मशीनें और उन बिल्डिंगों के बाहर जेब में हाथ डाले किसी बेहूदे इंतजार में खड़े सैकड़ों लोग। जैसे अंदर से सट्टे के किन्हीं आंकड़ों के जरिये उनकी किस्मत का फैसला आने वाला हो।

"माफ कीजिएगा," एक निरापद-से लगने वाले आदमी के पास पहुंचकर मैंने पूछा, "क्या यह फ्लीट स्ट्रीट है ?"

"हां !" वह आदमी कुछ चकित होकर मेरी ओर देखने लगा। "लेकिन तुम्हें कैसे मालूम हुआ ? तुम नीरद चौधरी हो ?"

"नहीं !" मैं कुछ सकपकाया, "मैं तो गरीब आदमी हूं !"

"गरीब आदमी ?" वह व्यक्ति चिल्लाया, "यह कैसे हो सकता है ? यहां कोई गरीब आदमी नहीं है !. . .मुझे तो तुम कम्यूनिस्ट जासूस लगते हो !. . . भागो यहां से, वर्ना मैं एफ० बी० आई० के डेटा प्रोसेसर में तुम्हारा कार्ड पंच करा दूंगा !"

और मैं सचमुच सिर पर पांव रखकर वहां से भागा। मैंने समझा था कि किसीने मुझपर गौर नहीं किया होगा, पर यह मेरा भ्रम था। सिर से पांव तक लबादा ओढ़े एक काली आकृति चुपचाप मेरे पीछे-पीछे चली आ रही थी। डर के मारे मेरे जिस्म में खून जैसे जमने-सा लगा. . .

उस आकृति को झांसा देने के लिए मैं यूं ही बेमतलब मटर-गश्ती करने लगा, जैसे कि मैं ऐलिस्टर मैक्लीन की किसी किताब का हीरो बन गया हूं। मुझसे कुछ आगे 'टाइम्स' का दफ्तर था, जिसके बाहर हाइड पार्क में कोयल दिखायी देने की सूचना देने वालों की क्यू लगी हुई थी। कुछ खोजबीन के बाद मैंने पेशाब करने की एक स्लाट-मशीन भी ढूंढ़ निकाली जिसपर लिखा था कि वहां ट्रेवलर्स चेक भी लिये जाते हैं। दो-तीन मिनटों के मामूली गुणा-भाग के बाद मैंने विदेशी मुद्रा की दरें तय कर लीं, हालांकि इस काम के लिए वहां एक मिनी कंप्यूटर भी मौजूद था। स्लाट में सिक्के डालने के बाद मैं निवृत्त होने में जुट गया, पर बीच में ही वह मशीन बंद पड़ गयी और स्लाट में कुछ और सिक्के डालने के बाद ही उसे फिर से चालू कर सका। शायद मैंने गलत गुणा किया था।

हल्के होने के बाद सबसे पहले मेरी निगाह उस हिस्से पर गयी जहां से होकर मैं आ रहा था। कुछ आतंकित भाव से एक क्षणांश में ही मैंने गौर कर लिया कि काले लबादे वाली वह आकृति नजदीक के 'फिश ऐंड चिप्स' स्टाल के पास खड़ी मेरी ओर देख रही है। उसकी बगल में ही एक पुलिसमैन हाथ में नोटबुक लिये एक खूबसूरत औरत का चालान कर रहा था, क्योंकि उसके कुत्ते ने फुटपाथ गंदा कर दिया था। फुटपाथ का वह विस्तार सचमुच बहुत साफ था, और उसके ठीक पीछे हैरड ऐंड मेकलॉयड का डिपार्टमेंटल स्टोर था।

"यहां सुई से लेकर हवाई जहाज तक मिलता है," उस स्टोर के दरवाजे पर खड़ा रोबो चिल्ला रहा था, "लेकिन एक दर्जन से ज्यादा हवाई जहाज खरीदने वालों को डिलिवरी के लिए एक घंटा इंतजार करना पड़ेगा!". . .रोबो के नजदीक ही एक 'टॉपलेस' युवती ठंड में ठिठुरती खड़ी फर्टिलाइजर के नये ब्रैंड के इश्तहार बांट रही थी . . .

डिपार्टमेंटल स्टोर की चमचमाहट से अपने-आपको बचाता हुआ मैं पीछे की गली में चोर कदमों से घुस गया। गली में अंधेरा था और उसके दोनों ओर मैले, बदबूदार 'घेट्टोज' की कतारें थीं। आगे एक जगह कुछ नीग्रो बच्चे हाथ में डंडा लिये बेसबाल खेल रहे थे। हवा में चावल और नूडल्स पकने की गंध थी, जिसकी शिनाख्त करते हुए मैं अपने पेट में एक कुलबुलाहट-सी महसूस करने लगा। मेरे दायीं ओर एक दरवाजे की दहलीज पर खड़ी एक चीनी औरत अपने बच्चे को दूध पिला रही थी। उन्हें देखकर, न जाने क्यों, मुझे अपनी मां की याद आयी। फिर दूसरे ही क्षण मैंने अपनी निगाह दूसरी तरफ कर ली जहां एक धुएंदार अंगीठी में 'न्यूयार्क टाइम्स' का संडे एडीशन झोंका जा रहा था।

"ये साले नीग्रो!" पास खड़ा एक सफेद आदमी भुनभुनाया, "सारी हवा खराब कर रखी है. . .!"

बदबूदार गलियों में सौ-डेढ़ सौ गज आगे बढ़ने के बाद रस्सियों के एक घेरे ने एकाएक मेरा रास्ता रोक लिया।

"ठहरो !" एक रोबो मेरी बांह पकड़कर चिल्लाया, "तुम आगे नहीं जा सकते। आगे घेट्टो में रहने वालों की जिन्दगी पर एक कलर टी० वी० फिल्म एन बी सी, बी बी सी और ए बी सी के लिए बनायी जा रही है। दर्शक दीर्घा के लिए तुम्हें बायें मुड़ना पड़ेगा।"

मैंने अपने पैरों में बंधे पेडोमीटर की रीडिंग सावधानी से नोट की और बांये मुड़ गया। कुछ आगे, पेड़ों के नीचे, सोफे बिछे थे जिनपर सात-आठ टीनऐजर लड़के-लड़कियां पसरे थे। उनके चेहरों का रंग चमकदार सफेद था और उन्होंने अपने हाथों में हैमबर्गर और बियर के कैन पकड़े हुए थे। उनके पीछे खड़े पेड़ शायद फायबर ग्रेड पॉलीऐस्टर के थे। पेड़ों के सामने कैमरों की कतारें लगी थीं, जिनके आगे एक नीग्रो बच्चा झंडा लिये खड़ा था। झंडे पर मार्टिन लूथर किंग की तस्वीर थी।

"एक्शन !" एक तोपगाड़ी के भीतर माइक्रोफोन लेकर बैठा डायरेक्टर चिल्लाया और इसके साथ ही एक तरफ खड़े पुलिस वालों की स्टेनगनों की गोलियां उस बच्चे के जिस्म को चीरती चली गयीं।

"कट, कट !" वह डायरेक्टर गुस्से में भुनभुनाता हुआ तोपगाड़ी से बाहर निकला। "गोली गलत जगह लगी है। रीटेक।". . .डायरेक्टर का आदेश सुन-कर चार-पांच रोबो अलग-अलग दिशाओं से दौड़े और खून से लथपथ उस बच्चे को घसीटते हुए एक तरफ ले गये। दो अन्य रोबो वैक्यूम क्लीनर से जमीन पर फैला खून साफ करने लगे। दो-चार मिनट में ही शॉट फिर से तैयार हो चुका था। तोपगाड़ी के पीछे से रोबो एक नये बच्चे को पकड़कर लाये और उसे उसी मुद्रा में फिर से कैमरों के सामने खड़ा कर दिया।

"एक्शन !" डारेक्टर फिर चिल्लाया और इस बार गोलियां समसुच ठीक निशाने पर लगीं। खून से लथपथ बच्चे का जिस्म फर्श पर गिरा, गिरकर एक बार धीरे से तड़पा और फिर वहीं ढेर हो गया। इसके साथ ही डायरेक्टर अपनी आंखों से आंसू पोंछता हुआ तोपगाड़ी से बाहर निकल आया,"आई हैव डन इट! आई हैव डन इट !" वह पागलों की तरह चिल्ला रहा था। "इस फिल्म की तस्वीरें अब जरूर टाइम मैगजीन को दी जा सकती हैं. . .ऐसा कलर टी० वी० पर पहली बार होने जा रहा है! आई एम ए सेलिब्रिटी!.. .आई हैव डन इट !. . ."

मैंने बहुत मुश्किल से अपनी उबकाई को रोका और अपने पेडोमीटर के सहारे डाइवर्जन नं० ३७६ से होता हुआ एक अपेक्षाकृत उजली गली में आ गया। यहां हर तीसरी दुकान पर अमृतसरी बड़ियां और 'सूतर फेनी' बिक रही थी। बीच में एक पंजाबी रेस्तरां था जिसमें इलेक्ट्रानिक तंदूर पर इंफ्रारेड

किरणों के सहारे इंस्टैंट रोटियां बन रही थीं।

"आर यू इंडियन ?" गली के बीचोंबीच खड़े एक जाट किस्म के नौजवान ने मुझसे पूछा। उसका यह पूछना था कि बीस-पच्चीस आदमियों की भीड़ ने मुझे चारों तरफ से घेर लिया और वे सब मुझपर झपटने की कोशिश करने लगे। एकाध उत्साहित नौजवान ने तो मेरी बांह अपने नाखूनों से छील डाली।

"ठहरिये, ठहरिये !. . . आप लोग सब ठहरिये !. . ." एक नेता किस्म का आदमी भीड़ पर काबू पाने की कोशिश करने लगा। "नौजवान !" वह मेरी बांह पकड़कर मुझे भीड़ से बचाता हुआ एक संकरी गली के भीतर ले जाने लगा, "हम तुम्हारा रंग जांचेंगे ! . . . चलो !" वह मेरी बांह को घसीट रहा था। भीड़ हमारे पीछे-पीछे आ रही थी। गली के दूसरे छोर पर इमिग्रेंट सलाहकार ब्यूरो था। वह आदमी मुझे खींचता हुआ ब्यूरो के भीतरी कमरे में ले गया।

"यह ब्यूरो इंटरपोल, स्काटलैंड यार्ड और एफ०बी० आई० के सहयोग से चलता है !" वह ठंडी आवाज में बोला, "मैं भी उन्हींका जासूस हूं . . . हमारी सरकार ने सभी विदेशी बस्तियों में घूमने वाले अजनबियों के रंग की जांच का आदेश दिया है !"

"येस, प्लीज कम दिस वे," एक नकाबपोश आदमी मुझे काले कपड़े से ढकी एक मशीन के पास ले गया।

"स्पेक्ट्रॉनिक ९७६ स्पेक्ट्रोफोटोमीटर पर येलो, व्हाइट, रेड और ब्लैक की रीडिंग्स चाहिए।" वह कुर्सी पर बैठे रोबो की बांह का बटन दबाते हुए बोला, "तुम चाहो तो नीले फिल्टर का इस्तेमाल कर सकते हो !"

रोबो मुस्तैदी से उठा और उसने जेब से एक चाकू निकालते हुए एक झटके के साथ मेरी बांह से एक वर्ग इंच चमड़ी का टुकड़ा काट लिया। मैं दर्द से चीख उठा, परंतु दूसरे ही क्षण उस नकाबपोश आदमी ने मेरे मुंह में न्यूयार्क स्टेपल काटन से बना एक साइलेंसर ठूंस दिया था। धुंधलाती हुई आंखों से मैंने देखा, सामने आसिलोस्कोप के स्क्रीन पर कलर रीडिंग्ज आने लगी थीं। येलो-७, ब्लैक-२३, रेड-०, व्हाइट-१. . .

"देखा, मैंने क्या कहा था !" नकाबपोश चेहरा उन आंकड़ों को देखकर विजय भाव से मुसकराया, "तुम जरूर इंडिया में भोपाल और इंदौर के बीच के किसी गांव के रहने वाले हो !"

"लेकिन मैं तो महज एक आदमी हूं !" मैं आक्रोश और दर्द से चिल्लाया, "देखो, यह देखो ! . . .मेरे खून का रंग भी तुम्हारी ही तरह लाल है !" मैंने अपनी बांह के जख्म की ओर इशारा किया। खून से मेरी सारी आस्तीन भीग गयी थी।

"वैज्ञानिक परीक्षणों ने सिद्ध कर दिया।" रोबो यांत्रिक आवाज में बोला,

"कि सभी आदमियों का खून लाल होता है, पर नवीनतम फोटोमेट्रिक अनुसंधानों से पता चला है कि सफेद आदमी का खून काले आदमी के खून से १८ दशमलव ६ प्रतिशत अधिक लाल होता है, जहां तक सर्फेस टेंशन का सवाल है. . .।" उसके वाक्य पूरा कर सकने से पहले ही नकाबपोश ने तेजी से आगे बढ़कर रोबो की बांह का स्विच बंद कर दिया और रोबो एक हल्की घरघराहट के साथ ठंडा पड़ गया। "दिस ब्लडी रोबो !" नकाबपोश भुनभुनाया, "इस तरह बकवास करेगा तो जरूर एक दिन इसका कोर्टमार्शल होकर रहेगा !. . .चलो !" नकाबपोश मुझे बांह से घसीटता हुआ बाहर की तरफ ले आया।

"कलर टेस्ट के आधार पर फिलहाल तुम्हें हिंदुस्तानी और काली बस्तियों में निष्कासित किया जाता है। मुख्य सड़क पर आने के लिए तुम्हें स्काटलैंड यार्ड से परमिट लेना पड़ेगा. . .एक हफ्ते के अंदर तुम्हें पासपोर्ट और वीजा की जांच का आर्डर मिलेगा. . .।" और इसके साथ ही उस नकाबपोश ने मुझे उठाकर फिर से उसी गली में फेंक दिया. . .

मेरे गली में गिरते ही बाहर इंतजार कर रही उस भीड़ ने मुझे फिर से घेर लिया।

"येलो-७, ब्लैक-२३ है !" एक जानकार आदमी भीतर से दौड़ा आया। "फालतू आदमी भीड़ से निकल जाओ, हटो !" और सचमुच उस आदमी की बात सुनकर बहुत-से लोग भीड़ में से छंट गये। वह आदमी कलर डाटा शीट लेकर मेरे बिल्कुल पास आ गया—"हूं. . .७ और २३ बराबर है ३० बटा दो बराबर है. . .यानी. . .सुनो, तुम सारस्वत ब्राह्मण हो ?"

"नहीं !" मैंने सिर हिलाया !

"तो फिर गोमंतक या मराठी को० ब्रा० ?"

"नहीं !" मैं बेचैनी से चिल्लाया।

"तब तुम जरूर कान्यकुब्ज होगे !" वह खुशी से चहका, "चलो मैं तुम्हें ईस्ट डलविच कान्यकुब्ज ऐसोसियशन में अपना नाम रजिस्टर करवाने के लिए ले चलता हूं . . . बाद में तुम इंटरनेशनल ऐसोसियेशन आफ कास्ट प्योरिटी के दफ्तर में भी जा सकते हो! . . . वे तुम्हारी ठीक जगह शादी करवा देंगे और तुम्हारे बच्चों के लिए सही नाम भी सुझा देंगे ! . . . चलो, जल्दी . . ."

मैं कुछ आतंकित-सा उसके दस्ताने वाले हाथों को देखने लगा जिनसे वह बड़ी शिद्दत के साथ मेरी कमीज की आस्तीन को खींच रहा था। फिर एक तेज झटके के साथ मैंने अपनी आस्तीन छुड़ा ली और बिना किसी पूर्वसूचना के बेतहाशा भागा। आदमियों की वह भीड़ कुछ दूर तक मेरे पीछे दौड़ी, फिर उन्होंने शायद हार मान ली और वे धीमे पड़ गये। बदहवासी में भागता हुआ मैं कई मुहल्ले पार कर गया। जब रुका तो मेरा सारा जिस्म पसीने से तर-ब-तर हो

चुका था। थकान से मेरी दोनों टांगें लड़खड़ा रही थीं। सुस्ताने के इरादे से मैं फुटपाथ के किनारे पर बैठने को हुआ, पर तभी मेरी निगाह सामने के फुटपाथ पर गयी और मेरी हड्डियां सर्द हो गयीं।

मेरे ठीक सामने काला लबादा पहने वह परिचित आकृति खड़ी मुसकरा रही थी। मेरे दिमाग में अब शक की कोई गुंजाइश न रही। काले लबादे वाली वह आकृति इतनी देर से मेरा ही पीछा कर रही थी।

बदहवासी की हालत में मैं सड़क के छोर पर दिखायी देने वाली सबसे पहली दुकान के भीतर घुस गया। वह किसी डेंटिस्ट का क्लिनिक था। भीतर जाने पर मैंने पाया कि वहां मरीजों की क्यू लगी हुई है और क्लिनिक का डाक्टर एक हिंदुस्तानी सरदार है। क्लिनिक में उपस्थित मरीज गोरे थे और अधिकांश वहां चाकलेट प्रतिरोधक टीका लगवाने के लिए बैठे हुए थे।

"सत सिरी अकाल !" डाक्टर मेरी ओर देखकर मुस्कराया। "हिंदुस्तानी हो ?"

मैंने सिर्फ बाहर इंतजार कर रही उस आकृति के डर से अपनी गर्दन हिला दी।

"तो फिर आओ बैठो !" वह खिल उठा, "मैं तुम्हें चांदनी चौक के घंटाघर की लस्सी पिलवाता हूं, आज ही एयर इंडिया से आयी है।" उसने दो बड़े-बड़े गिलास छोटी-सी टेबल पर रख दिये और मेरे ठीक सामने बैठ गया।

"और सुनाओ !"वह तफरीही मूड में था, "हिंदुस्तान के क्या हाल हैं ? हाऊ इज खुशवंत सिंह ?"

मैं उसके सवालों का जवाब देने की जगह लस्सी का गिलास खाली करने में जुट गया। गिलास खाली करके मैंने अपनी निगाह इधर-उधर दौड़ायी तो पाया कि सारा क्लिनिक अजीब-अजीब औजारों से भरा पड़ा है।

"ये सब सिर्फ दिखाने के लिए हैं !" सरदार जी ने मुझे समझाया, "हमारे असली औजार तो ये दोनों हाथ हैं !...वैसे आजकल तो दांतों में ऑटोमेटिक फूड ग्राइंडर भी फिट हो जाता है !...जो भी हो, घंटाघर वाले लस्सी बढ़िया बनाते हैं !" वह लस्सी खत्म करके अपनी मूंछों में अटकी मलाई साफ करने लगा। मैंने हां में हां मिलाते हुए सरदारजी से इजाजत मांगी और पीछे के दरवाजे से होता हुआ बाहर निकल आया। नजर घुमाते ही मैंने देख लिया कि काले लबादे वाली वह आकृति क्लिनिक के दूसरी ओर मेरे बाहर निकलने का इंतजार कर रही है। अपनी सूझबूझ से खुश होकर मैंने अपनी पीठ ठोकी और गली में से होता हुआ आगे निकल गया।

आगे एक विरोधी जलूस आ रहा था।

"हे यू कलर्ड !" एक पुलिस वाले ने अपने डंडे से मुझे रोक दिया, "गली में

जाओ, गली में जाओ।"

मैं कुछ सहमकर गली के कोने में चला गया और वहीं से जुलूस देखने लगा। जुलूस की अगली कतार में चलने वाली औरतों ने अपने हाथों में ऑटोमैटिक वीडियो पोस्टर पकड़े हुए थे—"मेक लव, नाट वार! लेबर को जीतना चाहिए! डाउन विद इमिग्रेंट्स! वी फार वियतनाम, वी फार विक्ट्री! आदि।"... डंडे पर लगा बटन दबाते ही पोस्टर बदल जाता था, तरह-तरह की आतिश-बाजियों के रंगीन धुएं के जरिये हवा में भी पोस्टर फैलाये जा रहे थे। उनमें से एक पोस्टर प्रदूषण के विरोध में था। मैं आगे बढ़कर उस जुलूस में भाग लेने वाले एक आदमी से उस जुलूस का मकसद पूछना चाहता था, लेकिन उस पुलिस वाले ने मुझे फिर से रोक दिया। मैंने देखा कि जुलूस के कुछ लोग हर दूसरे मिनट के बाद एक-दूसरे की बांहों में सुपर नारकोटिक एक्स के इंजेक्शन भी लगाये जा रहे थे। मैंने डरते-डरते अपना कदम आगे बढ़ाया तो पुलिस वाला मुझपर बरस पड़ा।

"यू कीप आउट ऑव दिस!" उसकी आवाज चिढ़ी हुई थी—यह हमारा अंदरूनी मामला है!...तुम साले रंगीन चमड़ी दिखाकर हमारी आंखों में धूल नहीं झोंक सकते।"

"ये लोग हिंदुस्तानियों के इतने खिलाफ क्यों हैं?" कुछ रुककर मैंने पूछा।

"क्योंकि हिंदुस्तानी गंदे होते हैं।" पुलिस वाले ने फन उगला, "उन्हें टाय-लेट सीट पर ठीक से निशाना लगाना नहीं आता।...उन्होंने हमारे सत्ताईस लाख बाथरूम खराब कर रखे हैं।..."

"और अफ्रीकियों से आपको क्या शिकायत है?"

"अफ्रीकी...अफ्रीकी...!" पुलिसमैन कुछ सोचकर बोला, "अफ्रीकियों का सबसे बड़ा कसूर यह है कि ये काले होते हैं...अगर वे नीले, पीले या किसी और रंग के होते तो हमें कोई शिकायत न होती। उनकी वजह से हमारे इमि-ग्रेशन आफिसेज के न जाने कितने स्पेक्ट्रोफोटोमीटर खराब हो चुके हैं! ब्लैक कंपोनेंट इंडिकेटर की सुई ही टूट जाती है!...तुमने इनाक पावेल के भाषण नहीं सुने?...और दूसरी बात यह है कि अफ्रीकियों की वजह से ओलंपिक गेम्स का सत्यानाश हो चुका है!"

"क्या इन जुलूसों के विरोध में कोई जुलूस नहीं निकलता?" मैंने उदासी में भरकर उस पुलिसमैन से पूछा।

"हां, निकलता है।" पुलिसमैन ने बताया, "लेकिन उसमें शामिल होने के लिए तुम्हें ह्वाइट हाउस से इजाजत लेनी पड़ेगी।"

"ह्वाइट हाउस का नाम ह्वाइट हाउस क्यों है?" मैं चिल्लाया, "उसे ब्लैक हाउस क्यों नहीं कहा जा सकता?"

"तुम बहुत ज्यादा सवाल पूछते हो ?. . .मुझे तुम्हारा इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम लेना पड़ेगा !" पुलिस वाला अपनी जेब से कुछ अजीब-से औजार निकालने लगा। मैं घबराकर वहां से वापस गली की ओर भागा, लेकिन गली में घुसते ही मैंने देखा कि काले लबादे वाली वह आकृति कुछ गजों के फासले पर एक कोने में खड़ी मुसकरा रही है। मैं उल्टे पांव दूसरी गली से भागा, और वह आकृति अपने जूते खटखटाती हुई तफरीही कदमों से मेरे पीछे आने लगी। मैंने अपनी रफ्तार तेज कर दी और जिस्म की सारी ताकत अपनी सांसों में भरकर छलांगें लगाने लगा। क्षण-भर को लगा कि वह आकृति पीछे छूट गयी है, पर मेरे सामने के अंधेरे कोने में हो रही सरसराहट ने मुझे फिर से आतंकित कर दिया। वह आकृति वहीं कहीं छिपी बैठी थी। मेरे मुंह से एक हल्की-सी चीख निकली और मैं बदहवासी में मुख्य सड़क की ओर दौड़ता चला गया।

मुख्य सड़क पर एक मैदान में परमाणु भट्टी सुलग रही थी, जिसमें शहर का सारा अतिरिक्त गेहूं जलाया जा रहा था। मैंने घूमकर देखा तो पाया कि वह आकृति नजदीक के टेलीफोन बूथ में खड़ी टेलीफोन कर रही है। उसकी घूमी हुई पीठ का फायदा उठाकर मैं फुटपाथ पर चल रही भीड़ में से होता हुआ आगे निकल आया। सामने ही रीजेंट्स थियेटर था। मैंने हड़बड़ाहट में काउंटर पर लगे कंप्यूटर से टिकट खरीदी और तेजी से हाल में फैले अंधेरे की ओर बढ़ गया। हाल में 'ब्लैक इज ब्यूटिफुल !' नाम का कोई स्टेज शो चल रहा था, उस शो में करीब तीन हजार काली लड़कियां स्टेज पर नंगी नाच रही थीं। सोफेनुमा कुर्सियों पर पसरे सफेद दर्शक माइक्रोलेंस वाली दूरबीनों के सहारे शो का मजा ले रहे थे।

"इन दर्शकों में काले लोग क्यों नहीं हैं ?" मैंने अपने बगल की सीट पर बैठे व्यक्ति से पूछा।

"क्योंकि वे सब शहर के दूसरे हिस्से में चल रहे 'ह्वाइट इज ब्राइट' शो को देखने गये हुए हैं !" उसने धीरे से जवाब दिया और खिलखिलाकर हंसने लगा। मैंने गौर किया कि वह अजनबी चेहरा और किसीका नहीं, लबादे वाली उसी काली आकृति का था। अपने शिथिल पड़ते अंगों पर आखिरी बार जोर डालकर मैं उठा और लड़खड़ाता हुआ हाल से बाहर निकल आया। वह आकृति इतनी दूर से भी मेरे पीछे आती दिखायी दे रही थी. . .

मैंने दौड़ना शुरू कर दिया। इसके लिए संकरी गलियां ही अधिक उपयुक्त थीं, जिनके दोनों ओर मैले घेट्टो उदास परछाइयों की तरह खड़े हुए थे। लेकिन हर ओर से मुझे काले लबादे वाली उस आकृति के पैरों की आहट की गूंज ही सुनाई देती रही। शायद उस आकृति को मेरी तमाम गतिविधियों की खबर थी. . .

एक गली के मोड़ पर अचानक मेरी मुलाकात दस-बारह साल के एक बच्चे से हो गयी। वह शायद अपने स्कूल से लौट रहा था।

"तुम स्कूल में क्या पढ़ते हो ?" मैंने यूं ही उससे पूछा।

"हमें साइंस पढ़ाई जा रही है।" उसने बताया, "आज हमें फोटोमीटर पर रंग मापने का प्रयोग सिखाया गया। लेकिन मैं रंगों में फर्क नहीं कर सकता। जन्म से कलर ब्लाइंड हूं।"

"हां !" मैं दर्द से मुसकराया, "सभी बच्चे जन्म से कलर ब्लाइंड होते हैं। लेकिन बड़े होते-होते वे रंगों में फर्क करना सीख जाते हैं. . ."

हमारे वार्तालाप को मोटरसाइकलों पर आ रहे एक गिरोह ने झटके के साथ तोड़ दिया। "वाच आउट निगर्स! वाच आउट. . ." वे दूर से ही चिल्ला रहे थे। करीब आते-आते वे बहशियों की तरह आवाजें निकालने लगे, "रन अवे, यू बास्टर्ड्स !" और इससे पहले कि कुछ हो सकता, एक ने बच्चे के सीने में चाकू भोंक दिया और मोटरसाइकिलों पर बैठकर झन्नाटे से आगे निकल गये।

बच्चे के सीने से खून का फौवारा बह निकला और वह मांस के लोथड़े की तरह सड़क पर गिर गया।

"आओ, आओ !. . .कोई तो आओ !" मैं पागलपन में चिल्लाने लगा, "आओ, इस काली लाश को देखो और मुझे बताओ कि इसके खून की विस्का-सिटी क्या है ! कोई तो आओ।"

लेकिन कोई नहीं आया। मैंने अपनी टोपी उतारकर लाश के चेहरे पर रख दी और भारी कदमों से एक ओर चल दिया। कुछ गजों के फासले पर, मैंने गौर किया, वह काले लबादे वाली आकृति चुपचाप खड़ी मुझे देख रही थी।

"मुझसे भागने की कोशिश करना फिजूल है।" वह ठंडेपन से मुसकरायी।

"लेकिन तुम हो कौन ?" मैंने फिसफिसाते हुए पूछा।

"मैं ?" वह आकृति हंसी, "मैं तुम्हारी स्वतंत्रता हूं !"

और मेरे देखते-देखते उस आकृति ने अपना लबादा उतारकर एक तरफ फेंक दिया, नीचे से उसका प्रेतात्मा की तरह सफेद जिस्म बाहर निकल आया, उसके सिर पर एक सफेद मुकुट था और उसने हाथ में एक सफेद मशाल पकड़ी हुई थी। कहां देखा था मैंने उसे, मैंने दिमाग पर जोर डालने की कोशिश की। शायद न्यूयार्क के मैनहटन में . . .

"क्या लिबर्टी का रंग भी सफेद होता है ?" मैं पूछना चाहता था, लेकिन इससे पहले ही उन सफेद हाथों ने मेरी गर्दन को धर दबोचा, "मेरे साथ दोह-राओ कि वैज्ञानिक प्रगति ने इस शहर को खुशहाली और तरक्की के आरामगाह में बदल दिया है !. . ."

"वैज्ञानिक प्रगति ने इस शहर को खुशहाली और तरक्की के आरामगाह में

बदल दिया है।" मैं बुदबुदाया।

"कहो कि रंग और जाति के भेद से ऊपर उठकर यहां के नागरिक एक-दूसरे के सुख में हाथ बंटाते हैं !"

"रंग और जाति के भेद से ऊपर उठकर यहां के नागरिक. . .यहां के नागरिक" मेरी आवाज बीच में से फटने लगी।

"साफ-साफ बोलो कि मैं भी दूसरे नागरिकों की तरह इस शहर में अपनी इच्छा के अनुसार जिंदगी जीने के लिए आजाद हूं।". . .उसकी गिरफ्त मेरी गर्दन पर कसती जा रही थी।

"मैं भी दूसरे नागरिकों की तरह . . . आजाद हूं . . . आजाद हूं . . . आजाद हूं !" मेरी आवाज किसी गहरे पानी में गोता लगाती चली गयी और मेरी आंखें बाहर निकल आने को हुईं।

इसके साथ ही उसने मेरी गर्दन पर अपने सर्द हाथों का कसाव ढीला कर दिया और मैं स्वयं अपने वजन तले लड़खड़ाता हुआ सड़क पर गिर पड़ा, मुर्दा और बेजान। मुझे देखकर लिबर्टी संतोष से मुसकरायी, अपने सफेद कंधों को उसने काले लबादे से ढका और उन अंधेरी गलियों से होती हुई फिर से उस सड़क की ओर निकल गयी जहां हैरड एंड मेकलायड स्टोर के करीब वह टॉपलेस युवती फर्टिलाइजर के इश्तहार बांट रही थी।

आम आदमी का शव

प्रदीप पंत
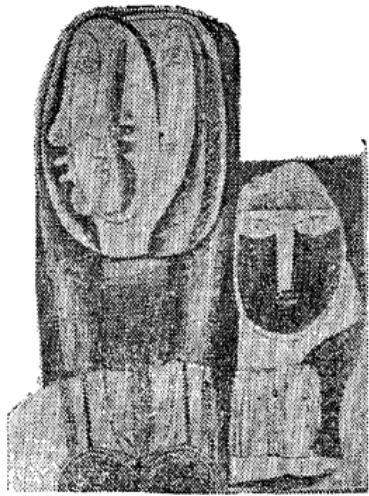
शव जिंदा हो उठा था।

पहले शरीर में हरकत हुई थी, फिर गरदन उचकी थी और फिर मुंह ऊपर उठा था। इसके बाद टांगें हिलीं और सिमटी थीं। फिर हथेलियों के बल पर वह एकाएक उठ खड़ा हुआ था और आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि उसका एक हाथ अप्रत्याशित रूप से लंबा होता हुआ...

खैर, छोड़िये इस प्रकरण को यहीं पर। बात इस तरह शुरू नहीं की जा सकती। किसका शव था वह ? और कैसे एकाएक जिंदा हो उठा था ?—ये तथा ऐसे ही अनेक प्रश्न उठ सकते हैं या उठाये जा सकते हैं। लेकिन इन प्रश्नों के उत्तर खोजने से पहले उन परिस्थितियों को जान लेना आवश्यक है जिनके कारण शव ज़िंदा हो उठा था, या यों कहें, उसमें चेतना आ गयी थी।

यह उसी रात की घटना है जिस रात वह प्रदेश की राजधानी पहुंचा था और कर्फ्यू उठाया जा चुका था।

वह स्टेशन से बाहर निकलने में घबरा रहा था, लेकिन फिर उसने सोचा, इस तरह घबराने से आखिर कब तक काम चलेगा ? और वह स्टेशन से बाहर निकल आया था। दरअसल, बाहर निकलने का एक और भी कारण था—यह जानने की उत्सुकता कि कर्फ्यू के बाद लोग कैसा महसूस करते

हैं और शहर कैसा नजर आता है ? वास्तव में यही उत्सुकता उसे तीस-चालीस किलोमीटर दूर के शहर से राजधानी लायी थी। उसने जिस छोटे-से अखबार में पत्रकार के रूप में अपने कैरियर की शुरुआत की थी, उसकी इतनी हैसियत नहीं थी कि अपने एक संवाददाता को मात्र राजधानी के समाचार लाने के लिए दौरे पर भेजे। इसीलिए वह स्वयं अपना पैसा खर्च करके राजधानी आया था।

वह स्टेशन से निकला तो उसने देखा कि सड़क पर आमदोरफ्त शुरू हो चुकी है, लेकिन लोग डरे हुए हैं। उनके चेहरों पर भय था, बल्कि कहा जाना चाहिए कि आतंक था। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर सेना के जवान बंदूकें हाथ में लिये तैनात थे। उनके चेहरों पर वहशियत थी। किसी-किसी चेहरे पर विवशता भी थी, मानो वे अपना काम रोजी-रोटी की मजबूरी में कर रहे हों।

वह एक चौराहे पर पहुंचा ही था कि उसे प्रदेश के मुख्यमंत्री दिखायी दे गये। वह उसे पहचान गये थे, क्योंकि पहले भी पत्रकार की हैसियत से वह उनसे मिल चुका था। उसे देखकर वह ठिठक गये। उसने उनसे पूछा, "इस समय रात को आप यहां कैसे ?"

उन्होंने उत्तर देने की बजाय पिस्तौल उसके सामने कर दी।

वह इस स्थिति के लिए तैयार न था इसीलिए घबराकर पीछे हट गया।

वह जोरों से हंसे, फिर बोले, "घबराओ मत, यह तुम्हारे लिए नहीं है।"

वह आश्वस्त हुआ और उसकी घबराहट कुछ कम हुई। उसने साहस बटोर-कर पूछा, "चाहे जिसके लिए भी हो, मुख्य मंत्री महोदय, लेकिन इसकी जरूरत क्यों आ पड़ी ?"

वह फिर हंसे। यह एक क्रूर हंसी थी। इस हंसी से यह भी लग रहा था कि कहीं अंदर से वह स्वयं भी आतंकित हैं। हंस चुकने के बाद उन्होंने बड़े धैर्य के साथ कहा, "तुम नहीं समझ सकते, अब इसके बिना काम नहीं चलेगा।"

वह सचमुच नहीं समझा, इसलिए उसने कहा, "आपकी पुलिस और सेना तो इसका इस्तेमाल कर रही है, इसलिए आपको इसकी क्या जरूरत ?"

मुख्यमंत्री के होंठों पर एक कुटिल मुस्कान आयी। उन्होंने कहा, "पुलिस और सेना तो इसका इस्तेमाल जनता को सही रास्ते पर लाने के लिए कर रही है और. . ."

"और आप किसे सही रास्ते पर लाने के लिए इसका इस्तेमाल करना चाहते हैं ?" उसने जानना चाहा।

वह बोले, "हमारी पार्टी के ये जो असंतुष्ट नेता हैं, बड़े खतरनाक हैं। ये लोग हमें हटाना चाहते हैं। इनके अगुआ पार्टी के प्रदेश अध्यक्ष और महामंत्री हैं। ये लोग हमें हटाकर राष्ट्रपति शासन लागू करवाना चाहते हैं या फिर विपक्ष से मिलकर दूसरी सरकार बनाना चाहते हैं। हम इन्हें सीधे रास्ते पर लायेंगे।"

कहकर उन्होंने भरी हुई पिस्तौल फिर उसके सामने कर दी। वह घबराकर पीछे हटा। वह फिर बोले, "हम अब भी इनसे कहते हैं कि मान जाओ।"

इतना कहकर मुख्यमंत्री हाथ में पिस्तौल थामे पार्टी के असंतुष्ट नेताओं की खोज में एक गली की ओर मुड़ गये। वह अकेले थे। असंतुष्टों ने उन्हें प्रदेश की राजनीति में अकेला कर दिया था। नहीं, वह अकेले नहीं थे। उनके पास पिस्तौल भी थी और बंदूकधारी सैनिक भी।

वह उन्हें जाते हुए देखता रहा। उन्हें रोकना ठीक न था। वह क्रुद्ध थे।

वह आगे बढ़ लिया। लोग सौदा खरीदने की जल्दी में थे और दुकानों की ओर लपक रहे थे। दुकानदार सामान बेचने की जल्दी में तो थे, लेकिन अपनी मनचाही कीमत पर। लोग जरूरी चीजों के लिए मनचाही कीमत दे भी रहे थे, शायद यह सोचकर कि क्या पता कब फिर कर्फ्यू लग जाये या दुकानों से सामान गायब हो जाये! दंगे-फसाद के मौकों पर उनके पिछले अनुभव यही थे।

तभी उसे दूसरे चौराहे पर विधायकों के साथ सत्ताधारी दल के अध्यक्ष और महामंत्री दिखायी पड़े। विधायकों के चेहरों पर क्रांतिकारियों जैसा आक्रोश और आवेश नज़र आ रहा था। वे मुख्यमंत्री की 'सत्ता' को उलट देना चाहते थे, लेकिन 'व्यवस्था' को नहीं। अखबारों में उनका वक्तव्य छप चुका था जिसके अनुसार मुख्यमंत्री तानाशाह बनता जा रहा था और वे स्वयं जनतंत्र की रक्षा के लिए लड़ रहे थे। पार्टी के प्रदेश अध्यक्ष और महामंत्री के चेहरों पर मुस्कान खेल रही थी, जैसे माओ त्से-तुंग के चेहरे पर खेलती रहती थी। शायद उन्हें महसूस हो रहा था कि राजनीति की बिसात पर उन्होंने एकदम सही चाल चली है—मात होने ही वाली है।

उसने सत्ताधारी पार्टी के अध्यक्ष से कहा "यह सब क्या कर दिया आप लोगों ने?"

वह बोले, "सांस्कृतिक क्रांति।"

उसने कहा, "मजाक छोड़िए। आप इस समय भी मजाक कर रहे हैं। सच-सच बताइए।"

वह बोले, "सच तो यह है कि क्रांति लड़कों ने की थी। हम तो बस क्रांति का फल चख रहे हैं। कर्फ्यू हटा तो हम क्रन्ति का फल चखने सड़कों पर आ गये।"

उसकी समझ में नहीं आया कि यह आखिर कैसी क्रांति है। उसने कहा, "आपका मतलब समझा नहीं।"

वह उसे एक तरफ ले गये, फिर बोले, "यह साला मुख्यमंत्री मानता नहीं था, बहुत ऐंठता था। हमने ही मुख्यमंत्री बनाया और हमसे ही अकड़। जनता ने जरा-सा शोर मचा दिया, बस टें बोल गयी।"

उसने कहा, "सो तो है। आखिर जनता को अनाज की दुकानों से अनाज-नहीं मिल रहा था, बनिये चोर-बाजारी कर रहे थे। अमीर किसानों ने गल्ला छिपा लिया था। इसलिए जनता को तो शोर मचाना ही था..."

उन्होंने बीच में ही उसकी बात काट दी, "अरे, सो तो ठीक है। इसकी इजाज़त तो अमीर किसानों और बनियों को हमने, मुख्यमंत्री ने, और बड़े अफसरों ने मिलकर दी थी। इस मुद्दे पर तो विपक्षी दल भी हमारे साथ थे। झगड़े का कारण यह नहीं है।"

"फिर क्या है ?" उसने पूछा।

पार्टी अध्यक्ष ने अपने साथियों की ओर इशारा करते हुए कहा, "देख रहे हो इन्हें ! इनकी काया कितनी सूख गयी है। इन्होंने कितना त्याग किया है, तुम्हें नहीं मालूम। लेकिन फिर भी साले मुख्यमंत्री ने इनमें से किसीको मंत्रिमंडल में नहीं लिया। इसलिए हमने क्रांति करवा दी।"

उसने कहा, "खैर, क्रान्ति की बात 'आप' छोड़िए। बताइए, अब आपकी क्या मांगें हैं ?"

वह बोले, "मांगें बहुत साफ और सीधी हैं—हमारे आदमियों को मंत्रिमंडल में लिया जाये या फिर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू किया जाये।"

"अगर इन दोनों बातों में से कुछ भी नहीं किया गया तो ?"

"तो हम पार्टी छोड़ देंगे।" पार्टी अध्यक्ष ने दृढ़ता से कहा "हम पार्टी तोड़ देंगे। हम जो करते हैं, वह कहते हैं। हम सिद्धांतप्रिय लोग हैं। हम सिद्धान्तों के लिए सदा मर मिटे हैं। सिद्धान्तों की खातिर हम पार्टी भी छोड़ सकते हैं।" फिर वे धीरे से उसके कान में बोले, "यों भी आजकल हवा का रुख हमारे दल के विपरीत है।" कहकर वह अपने असंतुष्ट साथियों के साथ आगे बढ़ लिये।

वह उन्हें जाते कुछ देर तक देखता रहा। वे जिस फुर्ती और चुस्ती से चल रहे थे, उससे लग रहा था कि सचमुच क्रान्ति आ रही है।

कुछ देर में वह भी आगे बढ़ गया।

आगे एक चौराहे के बीचों-बीच एक शव पड़ा था जिससे बदबू आने लगी थी। न जाने क्यों, कर्फ्यू उठ जाने के बावजूद इस शव को नहीं उठाया गया था।

वह जैसे ही शव के निकट पहुंचा, एक किनारे से दौड़ते हुए एक नेता उसके पास आ गये। उसने उन्हें आते नहीं देखा था, लेकिन उन्होंने उसे शव के पास जाते देख लिया था। उन्होंने पीछे से उसे खींचते हुए कहा, "ए मिस्टर, लाश को छूना मत।"

उसने उनकी पकड़ से मुक्त होते हुए पूछा, "आखिर क्यों ?...और किसका शव है यह ?"

वह बोले, "देखते नहीं, सड़क चलते आदमी का शव है यह—तुम्हारे ही जैसे आदमी का। हम इस आदमी का फोटो प्रदेश और देश के प्रमुख समाचार-पत्रों में छपवायेंगे। हमने प्रेस फोटोग्राफर बुलवाये हैं, ताकि लोगों को बताया जा सके कि सरकार ने कैसी निरंकुशता बरती है।"

उसने पूछा, "आप कौन हैं ?"

"विपक्ष।" कहकर वह सीना तानकर उसके एकदम सामने खड़े हो गये, मानो उसी के साथ उनका मोर्चा हो।

वह छिटककर शव के दूसरी ओर चला गया। अब उनके और उसके बीच खासा फासला था—बीच में शव था। उसने विपक्ष के नेता से कहा, "अगर प्रेस फोटोग्राफर न आये तो ?"

वह बोले, "आयेंगे, जरूर आयेंगे, भले ही देर से।"

"लेकिन शव से बदबू उठने लगी है।" उसने कहा, "ज्यादा देर तक लाश ऐसे ही पड़ी रही तो सड़ जायेगी।"

वह बोले, "कोई बात नहीं। सड़ने दो, हमारी राजनीति इसीपर निर्भर है।"

"शव के साथ भी राजनीति ?" उसने आश्चर्य से कहा।

लेकिन उसे उत्तर नहीं मिला—वह गायब हो चुके थे।

वह अवाक् खड़ा रह गया।

कुछ ही देर में प्रेस फोटोग्राफर और कुछ पत्रकार वहां आ गये। विपक्ष के नेता उनके साथ थे और उनके चेहरे पर हल्की-सी मुस्कान थी। सत्ताधारी दल के असन्तुष्ट अध्यक्ष, महामंत्री और विधायक भी पहुंच गये। भीड़ जमा होने लगी। इसी बीच भीड़ को चीरते हुए क्रुद्ध मुख्यमंत्री भी वहां आ पहुंचे। उनके पीछे-पीछे पुलिस और सेना के जवान भी संगीनें ताने आ गये। प्रेस फोटोग्राफरों ने अपना काम शुरू कर दिया। मुख्यमंत्री के इशारे पर सैनिक उन्हें अपनी गिरफ्त में लेने के लिए लपके। विपक्ष के नेता हाथापाई के लिए आगे बढ़ आये। जो नेता मुख्यमंत्री से असन्तुष्ट थे, वे नारे लगाने लगे।

लेकिन तभी एक बिचित्र घटना हो गयी।

शव एकाएक जिंदा हो गया।

सबसे पहले शरीर में हरकत हुई। उसके फौरन बाद गरदन उचकी और फिर मुंह ऊपर उठा। क्षण-भर में ही टांगें हिलीं और सिमटीं और हथेलियों के बल पर वह एकाएक उठ खड़ा हुआ। उसकी आंखों से अंगारे निकलने लगे।

तमाशाई भीड़ में भगदड़ मच गयी और क्रूर सैनिकों के हाथों से न जाने कैसे बन्दूकें गिर गयीं।

एक झपाटे के साथ शव ने मुख्यमंत्री को दबोचकर गिरा दिया। असन्तुष्ट

नेता बेहोश होकर गिर पड़े। विपक्ष के राजनीतिज्ञ भागते कि इसके पहले ही जीवित शव का एक हाथ अप्रत्याशित रूप से लम्बा होता हुआ उनकी गरदन पर आ टिका और पंजे की जकड़ में आये हुए वह कठपुतली के धागे में बंधे हुए-से पीछे खिचते चले गये।

दरअसल शव पूरी तरह जिंदा हो उठा था और एक जीते-जागते सचेत इन्सान की तरह हरकत करने लगा था।
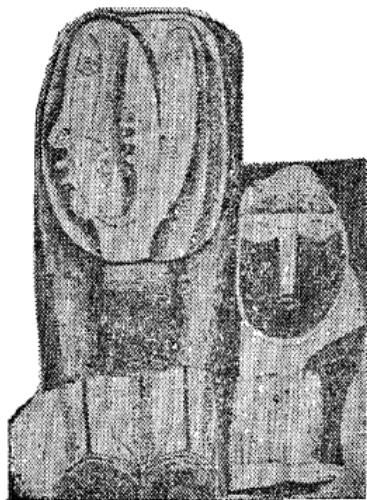
अनावत्ति

मधुमालती

पैदा हुई तो मैं चौथी लड़की थी मां की। इसलिए मेरे होने का उल्लास किसीमें नहीं था। न पिता में, न मां में, न मौसी में, न मामा में। बस हो गयी ! पर गजब कर दिया मैंने। इतनी काली !! पिता सांवले थे, पर मां तो गोरी थी, एकदम सफेद बुर्राक। गामा दाई तो गुस्सा गयी। नाल काटे बगैर उसने मुझे मोरी पर फेंक दिया। मां के पास दिल था। प्रसव-पीड़ा में भी चिल्लायी, "क्या कर रही है ! लड़की मर जायेगी।"

"मर जायेगी तो कौन नुकसान हो जायेगा ? पहले ही तीन-तीन हैं ! इस काली का क्या होगा ?"

उस वक्त मैं बड़ी होती तो मुस्कराती जरूर, और गामा दाई का दुपट्टा पकड़कर कहती, "इतना सच मत बोला कर, गामा। मन रखने को थोड़ा झूठ तुझे जहन्नुम की आग में नहीं झोंक देता।"

पर वह आग तो उसने सुलगा दी। उसने मेरी नाल काट दी। मैं मां से कट गयी। गर्भाशय में रही नौ महीने तो मैं मां थी, उसका ही एक अंश, उसका जिगर, उसका गुर्दा, उसका दिल, उसका गर्भ। अब मैं बाहर थी, उसकी बेटी, एक लड़की !

पैदा हो गयी थी, इसलिए पलने लगी। जानते-बूझते

गला कौन घोंटता ? हत्या का पाप कौन लेता ? हुशियार थे। शरीर की हत्या तो की नहीं, आत्मा की कर दी। न किसीने देखी, न किसीने जानी।

फिर मैं वैसे ही बड़ी हो गयी । तेरहवां साल लग गया। बड़ी दो बहनें गोरी, सुन्दर थीं, मांग-मांगकर शादी हो गयी। तीसरे नम्बर की बहन निशा सांवली थी, समस्या बन गयी। मां घबराने लगी, पिता चुप।

निशा तो अभी सांवली है और इतनी मुश्किल है, मैं तो एकदम काली हूं। मेरी चिंता में तो मां मर ही जायेगी। निशा को तो सोने-चांदी से मढ़ देंगे, मगर मुझे तो हीरों से तौल देने पर भी कोई नहीं लेगा।

मन हुआ अपनी सुन्दर मां के काले घुंघराले बालों में उंगलियां उलझाकर समस्या सुलझा दूं। कह दूं, मां क्या शादी कोई ज़रूरी है ? तुम लड़की की जगह मुझे लड़का मान लो, मैं तुम्हारे पास ही रहूंगी, पढ़ूंगी, लिखूंगी, नौकरी करूंगी। और रोज रात को मैं डाक्टर बनी अस्पताल के वार्डों में घूमती, भविष्य के प्रति आश्वस्त, निश्चिंत सो जाती।

उस रात भी मैं सो गयी थी। सुबह उठी। चौके के सामने दालान में नलके पर बैठी दांत मांज रही थी। चौके में नौकर शंकर आलू छील रहा था। बड़ी देर तक वह रुक-रुककर मुझे देखता रहा। फिर बोला, "मुन्नी, तेरी सलवार में खून लगा है !" दांत मलते-मलते मैंने झुककर अपनी सलवार को देखा। सच, खून था। खून ! यह खून कहां से आ गया ? चोट तो कहीं लगी नहीं !...

जल्दी से कुल्ली करके कोठरी में गयी। सलवार उतारकर अपनी टांगें, जांघें, शरीर का हर हिस्सा टटोलकर देखा, कहीं कोई चोट नहीं थी। कहीं कोई फुंसी-फोड़ा भी नहीं। तो यह खून ? समझ नहीं आया। सलवार उतारकर मैले कपड़ों में डाल दी। स्कूल जाने के कपड़े निकाले, नहा-धोकर तैयार हो गयी। धोबी की धुली नयी सलवार पहनी।

नाश्ता खतम करके किताबें जमा कर रही थी तो लगा जांघ चिपचिपा रही है। सलवार से पोंछते हुए नीचे हाथ लगाया। सलवार गीली थी। कमीज उठा-कर, झुककर देखा, खून, फिर खून !

कोठरी में निशा तैयार हो रही थी। मेरी उतारी सलवार उसने शीशे में से ही देख ली। मैं नयी सलवार पहन रही थी। वहीं से मुझे रोकती हुई बोली, "पागल, पहले कपड़ा लगा !"

"कपड़ा ! कहां लगाऊं ? क्यों लगाऊं ?"

माहवारी शुरू हो गयी थी। माहवारी, जो मेरे लड़की होने का प्रमाण थी। माहवारी के खून ने मेरे सभी सपनों का खून कर दिया। अब तो मां मुझे कभी भी लड़का नहीं मानेगी। मैं तो लड़की हूं, लड़की ही रह जाऊंगी !

सफेद सलवार में लाल-लाल खून खिला पड़ रहा था। मेरे ऐसे ही खून से

सृजन होगा। मैं मां बनूंगी—किसीका वंश चलेगा। एकाएक दिल धसक गया—आज यह लाल है, काला आने लगा तब ?

निशा की शादी ठहर गयी। मां ने सोने का जूता दिखाया तो कई सिर झुक गये। एक बाप ने तो उसे उछलकर लपक लिया। सब निशा की किस्मत पर अश-अश करने लगे। कैसी भाग्य वाली है !—क्या चांद का टुकड़ा मिला है ! लंबा, चौड़ा, गोरा-चिट्टा और उसपर लेआजां ऑफिसर। आचरण जैसे फूल-टंके हों ! बोली, जैसे शहद। दिल, बादशाह। निशा बहुत प्रसन्न थी, पर भयभीत भी—कहीं यह सब दांत दिखाने के न हों !

सब बहनें अपने-अपने घर चली गयीं। घर में अब मैं अकेली रह गयी। लड़की भी मैं, लड़का भी मैं। एकछत्र राज्य हो गया। चौबीसों घण्टे मां के, पिता के प्यार की अधिकारी केवल मैं रह गयी। बड़ा अच्छा लगा। सबसे अच्छा लगा पिता का सामीप्य।

कक्षा में प्रथम आ गयी। मां खुश हुई। पिता ने एक बार ऊपर से नीचे भर-पूर देखा। शायद कोई आलोक फूट रहा था मेरे चारों ओर ! वह देर तक देखते रहे और उसी बीच उन्होंने मेरे भविष्य का निर्णय ले लिया, "इसे डाक्टर बनाऊंगा। यह डाक्टर होगी तो दुनिया इसके आगे झुकेगी। बीमार कौन नहीं पड़ता ? सबको इसकी ज़रूरत पड़ेगी।"

मैं समझ गयी। पिता मेरा कालापन धोने का साबुन खरीद रहे हैं।

उस दिन मेरे भविष्य का सूत्रपात हो गया। रेशम से भरपूर जूता मखमल में लिपटने लगा। पिता वही तो मारेंगे इन समाज वालों को, गौरवर्ण के उपासकों को।

प्रीमेडिकल में मैंने सर्वोच्च स्थान लिया, इसलिए लेडी हार्डिंग कालेज में आसानी से दाखिला मिल गया। प्रथम वर्ष में एनॉटमी की पहली क्लास आज भी याद है। चार-चार छात्रों की टोलियों में एक शव बांट दिया गया। अस्प-तालों से लावारिस लाशें मेडिकल कालेजों में भेज दी जाती हैं। जिस शव पर हमें काम करना था, वह शायद मुर्दाघर में पड़ा रहने से एकदम काला हो गया था। शल्यक्रिया टेबल पर पड़ी उस लावारिस लाश को मैं देर तक देखती रही। जैसी लावारिस यह अब है, क्या ऐसी ही लावारिस यह पैदा होने के वक्त भी थी ? जब गामा दाई ने मुझे नाली पर फेंक दिया था, मैं भी लावारिस तो हो गयी थी ! अनचाही, अनभायी मैं लावारिश नहीं हूं क्या ? माता-पिता ने प्यार मुझे ऐसे ही ओढ़ा रखा है जैसे अनाथाश्रम का अधिकारी अनाथ बच्चों को मांगे के उतारे कपड़े पहनाता है। कोरों से निकला पानी काजल की पतली धार-सा आंखों में झूल गया।

"डाक्टर बनना है तो दिल मजबूत करो, किरण। मुर्दा देखकर रोने लगी तो

जिन्दा इंसानों को कैसे काटोगी ?"

'जिन्दा इंसानों को तो कच्चा चबा जाऊंगी।' मन में कीकर के कांटे फूट रहे थे। 'कोई एक बार उलझ जाये, खून-खून कर दूंगी।'

जब तक मैं तीसरे वर्ष में पहुंची, तब तक बहुत-से सम्बन्धी, जो अपने को कुछ अधिक समझते थे, मेरी मां और पिता को मुस्करा-मुस्कराकर नमस्कार करने लगे थे। कई बार तो अपनी कार में घर तक भी आये, क्योंकि अस्पताल में उनका कोई भरती होता था और अस्पताल में परवाह के लिए छोटी-बड़ी जान-पहचान आवश्यक होती है।

पर गजब, जब कभी मां ने मेरी शादी की बात चलायी तो कुत्ते की दुम टेढ़ी की टेढ़ी ही रही।

बहुत छोटी थी तो दूर की बुआ की ऊषा के साथ खेलती थी। बुआ की ऊषा एकदम सुबह-सी गोरी, सुन्दर थी, और मैं, मैं रात-सी काली। एक दिन मैंने बुआ से पूछा, "बुआ, ऊषा इतनी गोरी-चिट्टी क्यों है ?"

"अरे, इसे तो मैंने धोबी को धुलने दे दिया था।"

बुआ ने तो छुटकारा पाने के लिए कह दिया था, पर मैं धोबी के पीछे पड़ गयी। उसके घर जा पहुंची, "मुझे धो। मुझे गोरा कर।"

उस दिन इतवार था। सुबह के निरीक्षण के बाद हमारी छुट्टी हो गयी थी। छात्रावास से मैं घर आ गयी। निशा और जीजा जी आये हुए थे। श्रवण-कुमार-से सपूत जीजा जी ने आज तक निशा दी को कंधे पर बैंगी-सा ढो रखा था, जिससे झूलते एक पलड़े में उनके अपने माता-पिता का सुख था और दूसरे में हमारे पिता के दिये पैसे और दिलायी नौकरी। इन्हीं दोनों पलड़ों के बीच वह सन्तुलन बनाये थे। आज वह सन्तुलन पारे-सा बिखर रहा था। जीजा जी इस बैंगी को और नहीं उठायेंगे। यदि यह बैंगी चुपचाप उनके कंधे से उतार न ली गयी तो वह उसे झटककर फेंक देंगे। मां के आंसू रुके नहीं थे। पिता चुप थे। निशा असहाय पेंडुलम-सी रसोई और भोजनकक्ष के बीच उस वक्त का वक्त काट रही थी। किसी गौरवर्ण सुरेखा ने उसके सर्वस्व पर अधिकार जमा लिया था। धागे इतने उलझ गये थे कि टूटकर ही अलग हो सकते थे।—हां, गुंजल ऐसे ही पड़ा रह सकता था, कौन कहां जुड़ा है, कहां उलझा है, न कोई जानता, न समझता।

सब सुना तो सुन्न रह गयी। खून जैसे निचुड़ गया। आस की बेल, जो निशा दी के सहारे बढ़ रही थी, पाला खा गयी—अब नहीं होगी मेरी शादी। हीरों से तौल देने पर भी नहीं, डाक्टर बन जाने पर भी नहीं। काले पर भला प्यार का रंग कैसे चढ़ेगा! मेरी तो चदरिया काली है। झीनी भी नहीं, जतन से ओढ़ी भी नहीं, जन्म से ओढ़ी हुई है।

"क्यों ? आखिर क्यों ? चमड़ी क्या इतना अर्थ रखती है ?"

मैं नहीं, सवाल ही चीख रहे थे। क्षण-भर को सकपका गये जीजा जी। मुझसे इतने सीधे प्रश्न की आशा उन्हें नहीं थी। स्पष्टता के लिए वह भी इच्छुक थे। प्रश्न मेरी तरफ से हुआ। उन्हें जैसे दो आंखें मिल गयीं।

"शुक्र है, किसीने पूछा तो मुझसे ! सवाल रंग का नहीं है, किरण, उमंग का है। चमड़ी का नहीं, रगों में दौड़ते गरम खून का है।—खून जो सर्द है, एकदम सर्द है तुम्हारी जीजी का।"

मैं शायद भौचक्की रह गयी थी। विस्फारित नेत्र उनके चेहरे पर टिक गये थे। इसीसे जीजा जी अपनी कुर्सी से उठकर मेरे नजदीक की कुर्सी पर आ बैठे थे।

"समझ रही हो न, किरण, मैं क्या कह रहा हूं ? मेडिकल की छात्रा हो, वयस्क हो, समझदार हो। तुम्हारा सवाल बालिग लड़की का सवाल था। मैं ठीक समझ रहा हूं न तुम्हें ?"

हां कहूं या ना ? मैं तो सकते में रह गयी। उम्मीद मुझे भी नहीं थी कि जीजा जी इतनी खुली बात करेंगे मुझसे। गूंजती भारी आवाज़, उसमें अपनापन और उसपर मुझे बालिग मानना। सम्मोहित-सी मैं जड़वत् बैठी रह गयी।

"आदमी को औरत चाहिए, चमड़ी नहीं। शरीर की भूख के लिए शरीर चाहिए, मन की प्यास के लिए उमंग चाहिए, दिमाग की भूख के लिए बालिगपन चाहिए। हैं ये सब तुम्हारी दीदी के पास ?"

कुर्सी की पीठ पर सिर टिका दिया जीजा जी ने।

"जब-जब तुम्हारी जीजी के नज़दीक गया, एक ऊब-सी हुई। शरीर दिया तुम्हारी जीजी ने, पर जैसे धर्म निभाया हो। यह शर्म थी, अनभिज्ञता थी या अनुकम्पाओं की जड़ता, हर बार मुझे लगा मैं ही भूखा हूं, मैं ही प्यासा हूं। उसका शरीर दान-भावना से लगायी एक छबील-भर है। हर बार याचक-सा लगा, हर बार ग्लानि हुई। जब-जब तुम्हारी जीजी को बांहों में समेटा, हड्डियों का ठंडा पंजर ही चुभा। कहीं कोई उष्णता नहीं, कहीं कोई भराव नहीं। किसे कहूं मुझे केवल जिस्म नहीं, औरत चाहिए, औरत ! जिसकी कि रगों में दौड़ता गरम खून हो। अदम्य, अतृप्त इच्छाओं की तड़प हो। फिर यह सब काली चमड़ी के भीतर हो या गोरी के, चमड़ी का अपना कोई अर्थ नहीं रहता।"

बहुत थके-से जीजा जी कुर्सी से उठ गये।

"बहुत निभाया है मैंने। आडम्बर की भी हद होती है।" फ्रिज की तरफ जाते हुए उन्होंने मुड़कर मुझसे पूछा, "क्यों, क्या नहीं मानती हो ऐसा ?"

फ्रिज खोलकर उन्होंने बोतल से ही ठंडा पानी गले में उंडेल लिया और लौटकर फिर कुर्सी पर आ बैठे।

"आज मैंने अपने अन्दर के आदिम मनुष्य की बात कही है। हर पुरुष के भीतर यही आदिम मनुष्य होता है। हर पुरुष की यही तलाश होती है। क्यों, क्या नहीं मानती हो ऐसा ?"

"कभी सोचा नहीं इस तरह।" होंठ सूख गये थे मेरे। आवाज़ टूट रही थी, शरीर जड़ हो रहा था। यौनेन्द्रिय से कुछ रिस रहा था। क्या कोई रो रहा है भीतर ?

"नहीं सोचा है तो सोचो—तुम्हारे अपने लिए. . ." कहते-कहते जीजा जी रुक गये।

अधकहा वाक्य फन्नाता हुआ कपाल फोड़कर अन्दर घुस गया। जीजा जी की खिसियायी हंसी में मेरा बीभत्स भविष्य दांत निपोर रहा था।

विकल्प के अभाव में निशा दी ने परिस्थितियों से समझौता कर लिया। मां सदमा बर्दाश्त न कर सकीं। कुछ दिन बीमार रहीं और फिर जंजाल से छूट गयीं। मां की मृत्यु का मुझे कोई दुख नहीं हुआ, बल्कि अपराधभाव से राहत मिली। अब चैन है। पिता घर में कम रहते हैं और घर से बाहर जाते ही सब कुछ भूल जाते हैं। मुझे ही कहां याद रहता है कई बार कि मैं काली हूं। शादी का जिक्र ही आइना था जिसमें मुझे मेरी शक्ल दीखती रहती थी, और वह आइना हर वक्त मां के चेहरे पर टंगा रहता था। शुक्र हुआ, टूटा !

पर अचानक आसमान से ज़मीन पर पटक दी गयी।

उस दिन पिता जी छात्रावास मुझे लेने आये। शाम को कोई घर आ रहे हैं। आश्चर्य ! मेरी शादी ठहर गयी है। बात पक्की करने के दस हजार पिता जी दे चुके हैं। आज सगाई है।

लड़के की मां और बहन ने अस्पताल के गेट पर मुझे देख लिया था, और हवेली-सा घर, जो पिता जी ने दहेज में देने को कहा है, वह भी वे देख गयी हैं। लड़के को लड़की दिखाने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि मां और बहन की बात उसके लिए पत्थर की लकीर है।

"बेचारा ! तो उसे पता ही नहीं है कि मैं काली हूं। निरीह, अन्ध-विश्वास किये बैठा है मां और बहन पर। नहीं जानता कि जहन्नुम की आग में झोंका जा रहा है।"

मां नहीं तो पिता का मोह भी न रहा, न अपने से, न मुझसे, न अपने पैसे से। सब एकसाथ लुटा देने की ठानी है। मां के अभाव में पड़ोस की भाभी और श्रीमती मिश्रा ने सगाई का उत्तरदायित्व अपने हाथों में पंखे की तरह उठा लिया। जहां चाहा, हवा दे दी। उन्हीं द्वारा संचालित यंत्र-सी मैं शीशे के सामने सजायी जा रही थी। भाभी जूड़ा बना रही थी और श्रीमती मिश्रा हमेशा की तरह बतिया रही थीं, "लड़का बहुत ही सीधा है, वरना आज के युग में कौन बिना

देखे शादी को हां करे है !"

"...वैसे वह खुद भी तो काला है..." दे मारा पत्थर। शीशा छील-छील बिखर गया। पर कहां ? सामने का शीशा तो सलामत खड़ा है !

तो क्या मेरे भीतर कोई शीशा टूटा ?

क्या पति की कल्पना मढ़ी थी भीतर ? क्या वही छिन्न-भिन्न हुई ? टटोल-टटोलकर हृदय देखा। गहराइयों में कांच धंसे थे। हां सच, कभी सोचा ही नहीं था, पति काला भी हो सकता है।

काला है तभी तो छला जा रहा है ! मन हाहाकार कर उठा। इतना घायल, इतना अपमानित तो वह कभी भी नहीं हुआ था। "काला है तो क्या, लड़कों का रंग कौन देखे हैं। लड़का तो घी का लड्डू होवे है, हमेशा घी का लड्डू।" श्रीमती मिश्रा भाभी का मुंह बन्द कर रही थीं।

विवाह के अग्निकुंड में उस घी के लड्डू को होम कर दिया उसके घर वालों ने। मेरी शादी हो गयी। मन रोना-रोना होता रहा। वरमाला डालते समय क्षण-भर को नहीं, युगों तक के लिए उसके हाथ ठहर गये थे। मैं तो जड़ हो गयी थी। शिला बन गयी थी। पांव से छू देता तो जी जाती। पर उसने तो छुआ ही नहीं। उस रात भी नहीं, दूसरी रात भी नहीं, और कई रातें नहीं।

वह इतना भला था कि ठुकरा भी न सका। घुटता रहा, छटपटाता रहा। बर्फ की सिल जो मैंने भीतर रख ली थी, पिघलने लगी उसके लिए, वह जो मेरा पति था, जो सज़ा भुगत रहा था, सपूत होने की। उसकी मां के दर्शनमात्र से ही मेरा मन आक्रोश से भर जाता और जब-जब वह अपने लाड़ले का लाड़ करती तो दहकती सलाखें मुझे दाग-दाग जातीं। अपनों ने दगा दिया था, कहता भी किससे ? सूख गया, तन से, मन से। अन्तस् फट गया जगह-जगह। हर उसांस फटी दरार को नापती आती। सूखा-ऊसर, एकदम बन्जर हो गया। हाय, मैं काली बदली भी न बन सकी !

निरीह भटकता रहा, यहां-वहां, अपने मित्रों में। और मैं घर के अंधेरे कमरे में और अंधेरा करती रही।

एक दुहरा मौन हम दोनों के बीच था। अपनी तरफ मैंने सांकल लगा रखी थी, और दूसरी तरफ उसकी कभी खोलने की इच्छा ही नहीं हुई। पर इस तरह तो दम घुट जायेगा एक दिन।

"काले आदमी ने मरने की ठानी है क्या ?"

एक रात गुस्सा ही आ गया उसपर। क्या अन्तर है तुममें और मुझमें ? बत्ती जला लो तो भी नहीं, बुझा दो तो भी नहीं।

मैंने बत्ती बुझा दी। वह चौंककर उठ बैठा। ऐसा तो कभी नहीं हुआ था। शादी के बाद से उसने हमेशा उजली रोशनी से अपने को ढंके रखा। आज मैंने

उसे उघाड़ दिया। तार-तार करने पर तुली हूं। वह हतप्रभ था। और मैं उकसा रही थी। कमीज के अन्दर मेरे हाथ उसके सीने के बालों पर फिसल रहे थे। स्पर्श के रोमांच से वह कण्टकित हो गये। मेरी हथेलियां ठंडी बयार-सी उन्हें सहलाने लगीं।

फिर कहीं और भी सिरहन हुई। कोई और भी नींद से जागा। तुरन्त मैंने उसे झकझोर दिया। अप्रत्याशित स्पर्श से वह अकड़कर खड़ा हो गया। प्रत्याक्रमण के लिए तैयार। किसने ललकारा है, कहां आक्रमण करना है ?. . .मैंने उसे भी अनावृत्त कर दिया। शिरीष पर चुम्बन से तिलक लगा दिया, और देर तक थपथपाती रही। मेरी बीन पर वह बेसुध नाग मस्त झूमता रहा।

मौन अभी भी नहीं टूटा था। वह प्रसन्न है या दुखी, संकोची है या योगी, पहचान न सकी। उसने सब करने दिया मुझे, और मैं देर तक एकलिंग को साधती रही।

सुबह वह जाते हुए मां से कह रहा था, "पढ़ायी अधूरी रह गयी है। किरण को होस्टल भेज दो। पूरी डाक्टर बन जायेगी तो अपने पैरों पर खड़ी हो जायेगी। पढ़ायी में मन लग जायेगा।"

पानी को मुट्ठी में पकड़ रही थी क्या ?

इसे औरत नहीं चाहिए ? इसके भीतर आदिम मनुष्य नहीं है क्या ? वह आदिम पुरुष जिसे औरत चाहिए, चमड़ी नहीं, औरत।

यह तो दया के योग्य भी नहीं है। ध्यान देने के काबिल भी नहीं है।

क्यों सोचती रही उसके बारे में ? क्यों रिसती रही ?

क्यों ऑक्सीजन देने चली थी ! घुट के मरने दो, मर जाने दो। सब मर जायेंगे। यह भी, मैं भी, इसकी मां भी, मेरे पिता भी। जीवित लाशें ही तो हैं सब ! सड़ रही हैं। अब दुर्गन्ध उठेगी ! फिर कीड़े पड़ जायेंगे !

पर कीड़ा तो मेरे पड़ गया, मेरे गर्भ में। वह मेरा पति अच्छाई करने से बाज नहीं आया। मैंने तो एक ही रात बत्ती बुझायी थी, वह तो अब अक्सर बुझा देता है और बुत-सा पड़ जाता है प्रतीक्षा में, मैं आऊं और खुल खेलूं मनभर। पहले लगा, बगुला भगत है। मन-मन भाये मूंड हिलाये है। पर एक बार भी तो नहीं, एक बार भी उसने अपने से मुझे नहीं छुआ। मैं ही शुरुआत करती और तब वह अहसानों से दबा देता। गद्‌गद कभी हुई नहीं, धन्य कैसे हो जाती ?

"मेरी कोख में तुम्हारा बीज ठहर गया है !"

होंठ कट गया। शेव बनाते-बनाते वह रुक गया। पहली बार उसने दिन की रोशनी में मुझे भरपूर देखा।

"कितने महीने ?"

"तीन।"

टप-टप-टप खून की बूंदें तौलिये पर गिरीं। खून एकदम लाल था। देर तक देखती रही। अब वहां तौलिया नहीं, मेरी सलवार थी।

आंखें रेजर पर जमाये-जमाये वह बोला, "तो क्या चाहती हो?...वह भी...?"

फटाक! बादलों में उड़ते हवाई जहाज़ का दरवाजा एकदम उखड़ गया। क्षणों में चीखती हवा ने मुझे सोख लिया। झपट्टे से खींचती ले गयी, नीचे, बहुत नीचे। ठोस धरातल पर दे पटका। मैं लहूलुहान हो गयी। चारों तरफ खून ही खून था। जब तक मुझे होश आया वह लाल खून काला हो गया था।

मैं खड़ी थी, स्टूल पर बैठ गयी। पसीने से लथपथ थी।

"हां, भीतर का जीव भी तो काला होगा।"

अस्पताल के बिस्तर पर पहली बार अहसास किया उस बुद्धिजीवी के पास भी दिल है। वह फूट-फूटकर रोया। कृतज्ञता बिना बांध बह रही थी। मुट्ठियों में वह मेरे हाथ समेटे था। मुझसे मेरा जैसे साहस बटोर रहा था।

मैं मुस्करा दी।

भ्रूण हत्या ही तो की है। आत्मा की नहीं, जीव की भी नहीं। यह हत्या तुम्हें या मुझे नरक की आग में नहीं झुलसायेगी। मेरे-तुम्हारे भाग्य की पुनरावृत्ति नहीं होगी।

काश, मेरी मां मेरी ऐसी ही हत्या कर देती!

स्वर्ग

महेश्वर

सामने वाली बड़ी पीली कोठी में दावत है। लोग आ रहे हैं और खाकर जा रहे हैं। जूठी पत्तलों और मिट्टी के बर्तनों के ढेर थोड़ी-थोड़ी देर बाद बाहर नाली के पास डाले जा रहे हैं। उस ढेर पर भी कुछ लोग दावत उड़ा रहे हैं। इनमें दो बच्चे हैं, दो कुत्ते और एक गाय।

"मैं आठ साल का हो गया।" जग्गी कहता है।

"कैसे मालूम ?" बिल्ला पूछता है।

जग्गी को उसकी मां ने बताया है। आठ साल पहले आज ही के दिन वह पैदा हुआ था।

"आठ साल कितना होता है ?" बिल्ले का सवाल।

"बहुत-बहुत दिन होते हैं। झिनकी जितने दिन में मेरे इतनी हो जायेगी, उतने में आठ साल होंगे।"

जग्गी अपनी बहन का उदाहरण देकर समझाता है। दोनों ढेर में से चुन-चुनकर जो पा रहे हैं, मुंह में भरते जा रहे हैं।

"मैं कितने साल का हूं ?" बिल्ला थोड़ी देर बाद पूछता है।

"मैं क्या जानूं ? तेरी मां होती तो बताती।"

बिल्ला उदास हो जाता है। उसकी मां क्या हुई ? सबकी मां हैं तो उसकी क्यों नहीं है ?

"मेरी मां कहां है ?" वह जग्गी से पूछता है।

"तेरी मां तो कब की मर गयी।"

"मरकर कहां गयी।"

"सुरग में।"

"सुरग कहां है ?"

"ऊपर अकास में। मां बताती है, सुरग बहुत अच्छी जगह है।"

"वहां खाने को मिलता है ?" बिल्ला उत्तेजित होकर पूछता है।

"हां, हां, रे ! जितना चाहो, उतना मिलता है।"

"क्या पेट भर के देते हैं ?" बिल्ले की आंखों में अविश्वास उभरता है।

"जितना चाहो ठूंस-ठूंसकर खा सकते हो।" जग्गी जानकार की तरह कहता है।

"अच्छा ! जभी तो मां चुपके से अपने चली गयी और मुझसे एक बार बताया भी नहीं कि कहीं मैं भी न साथ लग जाऊं।" बिल्ले को विश्वास होने लगता है। "मां तो अकेले-अकेले खूब खाती होगी। साली !" बिल्ला जलकर गाली देता है।

एकाएक कुछ सोचकर बिल्ले की आंखें चमक उठती हैं।

"अच्छा जग्गी, तू जानता है सुरग कइसे जाया जाता है ?"

"हां !" जग्गी छोटा-सा उत्तर देता है।

"तो मुझे बता दे न, मैं भी सुरग जाऊंगा।" बिल्ला चिरौरी करता है। उत्तेजना में जूठन चुनना भूलकर वह जग्गी की ओर एकटक देखता है।

"अरेस्साला !" जग्गी हंसने लगता है, "सुरग भी क्या तेरी नानी का घर है कि जभी चाहेगा तभी वहां चल देगा। ऐसे नहीं। मरकर सुरग जाया जाता है, समझा ?"

बिल्ला सोच में पड़ जाता है। जग्गी ठीक कहता है। मां भी मरकर ही सुरग गयी है। अगर वह भी किसी तरह मर पाता तो सुरग जाता और खूब-खूब खाता। उसे हंसी छूटने लगती है।

"काहे हंसता रे बिल्ला ?" जग्गी एक दही का दोना चाटते हुए पूछता है।

"अइसह. . ." बिल्ला फिर हंसता है। उसके हाथ बराबर पत्तलों को तेजी से उलट-पलट रहे हैं और उनमें लगी जाने कौन-कौन-सी चीजों को वह उंगलियों से काछ-काछकर चाटता जा रहा है। इतनी सारी पत्तलें वह चाट गया। फिर भी उसका पेट नहीं भरा।

पेट भरने पर कैसा लगता होगा ! वह सोचता है।

जरूर बहुत अच्छा लगता होगा। अगर कभी पेट भर पूड़ी-मिठाई-सब्जी खाने को मिलती. . .और बिल्ला इस बार जोर से हंस पड़ता है।

"दुर, साला ! ऐसा खाली-खाली हंसेगा तो लात खायेगा। साला। हरामी।" जग्गी को उसका हंसना बहुत बुरा लगता है।

बिल्ला डर जाता है। वह जग्गी से नहीं जीतेगा। जग्गी के बहुत जोर हैं। साला बहुत ज़ोर से ठूंसा मारता है और जब भी मारता है, पेट में। सलीमा से सीखा है। थोड़ा और बड़ा हो जाऊं तो मैं भी सलीमा से सीखकर साले के पेट में वो ठ्ठूसा दूंगा कि जानेगा।

"अरे, ब्बापरे, जग्गी ! एद्देख।" बिल्ला खिलखिला पड़ता है।

जग्गी देखकर अवाक् रह जाता है। बिल्ले के हाथों में एक बड़ा-सा समूचा मोतीचूर का लड्डू है। उसमें से एक दाना भी खाया नहीं गया है। जग्गी का गुस्सा तुरंत खत्म हो जाता है। उसकी पुतलियां लड्डू और बिल्ला के चेहरे के बीच मक्खी की तरह भिनभिनाने लगती हैं।

"बिल्ले, मुझे भी आधा देगा न ?" जग्गी मिन्नत-भरी आवाज़ में पूछता है।

बिल्ले के चेहरे से हंसी गायब हो जाती है। उसकी जगह पहले इनकार, फिर गहरा भय उभरता है। झट वह लड्डू वाला हाथ पीठ के पीछे कर लेता है और उसकी देह तन जाती है। जग्गी उसका इनकार समझ जाता है।

"नहीं देगा ?" वह बिल्ले को धमकाता है।

"काहे दूंगा ? मैंने खोजा है।"

"देख बिल्ले, मैं ही तुझे हियां लाया हूं। सीधे से दे दे, नहीं तो फिर कहीं दावत हो तो ले भी नहीं जाऊंगा।"

"न ले जाना, मैं आप चला जाऊंगा।"

"बिल्ले साले पूरा नहीं खायेगा। सीधे से आधा दे दे।"

"नहीं दूंगा, नहीं दूंगा। तेरे बाप का नहीं है," और बिल्ला एक पांव पीछे रखता है। जग्गी समझ रहा है, वह भागेगा। जग्गी उछलकर बिल्ले को पकड़ लेता है।

"हरामी, देगा कइसे नहीं। तेरी जान भी ले लूंगा।"

दोनों गुत्थमगुत्था हो जाते हैं। जग्गी का हाथ उसके पीछे पहुंचे, इससे पहले ही बिल्ला लड्डू को उंगलियों से दबाकर चूर-चूर कर देता है। मोतीचूर के दाने पत्तलों के बीच बिखर जाते हैं। जग्गी जब उसका हाथ मोड़कर सामने करता है तो उसमें कुछ भी नहीं पाता। आग बबूला होकर वह बिल्ले को वहीं जूठन के बीच पटक देता है। मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े बिल्ले की पीठ में बुरी तरह चुभने लगते हैं। बिलबिलाकर वह जग्गी को लातों-लातों मारने लगता है। उसकी बांह काट खाता है। जग्गी का गुस्सा भड़क जाता है। वह बिल्ले की छाती पर चढ़ बैठता है और नोच-नोचकर उसके चेहरे को लहूलुहान कर देता है।

हारकर बिल्ला रोता-चीखता कुछ देर पिटता रहता है। मारते-मारते

जग्गी थक जाता है तो उसे छोड़कर एक किनारे बैठ जाता है और हांफने लगता है।

"जान ही ले डालूंगा। चल, माला भाग हियां से। उठ। उठ। भाग।" जग्गी पास पड़ी ईंट उठाता है।

बिल्ला एक बार डर से बुरी तरह चीखकर उठ खड़ा होता है। जगह-जगह उसकी देह छिल गयी है। पेट, पीठ और चेहरे की खरोंचों में बुरी तरह जलन और दर्द हो रहा है। मन ही मन वह जग्गी को गालियां देता जा रहा है।

मगर वहां से उठकर वह दूर नहीं जाता। थोड़ा हटकर एक किनारे बैठ जाता है। थोड़ी देर में उसकी रुलाई रुक जाती है। टकटकी बांधे वह जग्गी को तेजी से पत्तलें चाटते देखता रहता है। जग्गी को खाते देखना उससे बर्दाश्त नहीं हो पा रहा। साला राक्षस है। सब खा जायेगा।

अंत में जब उससे और सहन नहीं हो पाता तो वह कुत्तों की ओर देखने लगता है। एक कुत्ता जीभ निकालकर तेजी से कुछ चाट रहा है। उसकी जीभ से लार टपक-टपककर पत्तलों को भिगो रही है। दूसरा कुत्ता पत्तलों के बीच थूथन घुमाये कुछ ढूंढ़ता हुआ गाय तक चला जाता है। गाय बहुत तेज सींग भांजती है। कुत्ता डरकर पीछे हटता है। एक बार गाय की ओर मुंह उठाकर भूंकता है। गाय फिर सींग झटकारती है। कुत्ता थोड़ा और पीछे खिसकता है। फिर एक टांग उठाकर पत्तलों के बीच ही मूतने लगता है। मूत की धार पत्तलों पर गिरकर अजीब-सी आवाज करती है। बिल्ले को यह आवाज अच्छी लगती है। वह मुस्कराता है।

जग्गी बिना इधर-उधर देखे मुस्तैदी से पत्तलें चाटता रहा है। बीच-बीच में वह बिल्ले की तरफ ताकता है तो बिल्ले को आशा बंधती है कि वह उसे बुला लेगा। मगर जग्गी हर बार मुंह फेर लेता है।

मूत चुकने के बाद कुत्ता फिर पत्तलों के बीच थूथन घुमाकर कुछ खोजने लगता है।

"हेस्साला ! कुत्ते के मूत वाला खा रहा है !" बिल्ला बुदबुदाता है और उसके मुंह में पानी भर आता है। बेहद निराश होकर आखिर बिल्ला जग्गी और पत्तलों की ओर से दूसरी ओर मुंह घुमा लेता है। उसके पेट में ऐंठन होने लगी है। सब साले उसे मारते हैं। जग्गी कभी नहीं मारता था, आज उसने भी मारा। आधा लड्डू दे ही देता तो अच्छा होता।

लड्डू की याद आते ही उसकी नजर अपनी हथेली पर पड़ती है। उंगलियों के बीच अभी भी मोतीचूर के कई दाने फंसे हुए हैं। वह अपनी हथेली सूंघता है। मीठी-मीठी सोंधी महक से उसके नथने भर जाते हैं। वह आहिस्ता-आहिस्ता अपनी जीभ से उंगलियों में फंसे दाने उठाने लगता है। एक दाना उठाकर मुंह में देर तक घुमाता है। फिर दूसरा उठाता है। एक-एक दाना चुन लेने के बाद वह

अपनी हथेली को सफाई से चाट डालता है। फिर उसकी निगाहें अपनी देह के और हिस्सों पर घूमती है। पत्तलों के बीच पटके जाने से उसकी समूची देह में जूठन लिथड़ी पड़ी है। जहां तक उसकी जीभ पहुंच पा रही है वहां तक वह अपनी देह के हर हिस्से को चाट डालता है। इस काम से फुरसत पाकर वह एक बार और जग्गी और पत्तलों की ओर निगाहें फेंकता है। जग्गी अभी भी पत्तलों के बीच डटा है। उसकी आशा अंतिम रूप से टूट जाती है और वह रोने लगता है।

रोते-रोते भी वह तेजी से उन जगहों के बारे में सोचता जा रहा है, जहां जाने पर कुछ खाने को पा सकता है। अचानक उसे सुरग याद आ जाता है। उसकी आंखें चमक उठती हैं और रोना बन्द हो जाता है—हां, सुरग में भर पेट खाना मिलेगा। वह जरूर सुरग जायेगा। जग्गी कहता है वहां मरकर जाया जाता है। वह मरना जानता है। अभी उस दिन बिहरिआ मोटर से दब गया तो सभी कह रहे थे वह मर गया है। वह भी इस बखत सुरग में होगा। सुरग जाना कोई मुसकिल बात नहीं है। मिनट-मिनट पर बस आती है। बड़ी सड़क पास में ही है।

"खाना हो तो आके खा। कोई साला सिपारस नहीं करने जायेगा।" जग्गी उसे जाते देखता है तो सुनाकर कहता है।

बिल्ला घूमकर भी नहीं देखता। मन ही मन मुसकराता है—धुर सारा। कुत्ते के मूत वाला कौन खायेगा और निश्चिन्त होकर वह बड़ी सडक की ओर बढ़ने लगता है।

कैसा होगा सुरग ? वह सोचता है। धीरे-धीरे उसके सामने सुरग उभरने लगता है। खूब चौड़ी काली सड़कें। कतार में बने हुए ऊंचे-ऊंचे सफेद झक् महल। महलों में बड़े मोटे-मोटे सेठ। दुनिया वाले सेठों से चरगुना बड़ी उनकी तोदें। हर महल में दावत। दावत खाकर जाते ढेर के ढेर हंसते-खिलखिलाते लोग। चारों ओर हलवा, पूरी, मलाई, गोश्त, जलेबी और तरह-तरह की सब्जियों की महक और महल के आगे जूठन का एक बड़ा भारी ढेर। न गाय, न कुत्ते, न जग्गी...

बिल्ला अपने लिए जूठन का सबसे बड़ा ढेर चुन लेता है। जल्दी क्या है, वह सोचता है, हालांकि उसके मुंह में तेजी से राल भरने लगी है। धीरे-धीरे वह ढेर के पास बैठ जाता है। एक जूठा पत्तल बहुत आहिस्ता से उठाता है। अरे !! वह काठ हो जाता है। नीचे की सांस नीचे, ऊपर की ऊपर ! पत्तल के नीचे ढेरों इमरती, लड्डू, जलेबी, जाने किन-किन मिठाइयों के टुकड़े ही टुकड़े पड़े हैं। कोई-कोई तो एकदम साबुत ही है। दोनों ओर कसोरों में रबड़ी, दही और बुनिया आधी भरी पड़ी है।

"साले दुनिया के सेठ सब बड़े कंजूसड़ा होते थे," बिल्ला बुदबुदाया। "वहां

तो खूब जरा-जरा-सा छोड़ते थे। यहां तो सुरग के सेठों ने भरे-भरे दोने ही जूठन में छोड़ दिये हैं। आज जरूर उसका पेट भर जायेगा। बाप रे बाप! कैसा लगेगा!"

बिल्ला बहुत एहतियात से एक बड़ा लड्डू ढेर में से उठाता है। मगर तभी जैसे कोई उसे पीछे से पकड़कर घसीटने लगता है। बिल्ले के मुंह से गहरी हताशा से चीख निकल जाती है। जग्गी की आवाज सुनकर वह बुरी तरह डर जाता है। क्या जग्गी भी सुरग पहुंच गया?

"अरे साला, सड़क में कहां जा रहा था आंख मूंदे? मरना है क्या? चल तुझे भी खिलाऊंगा। बहुत चिन्नी खां मत बन। अब से नहीं मारूंगा कभी, मां कसम।" जग्गी उसके गले में बांह डालकर उसे मना कर रहा था।
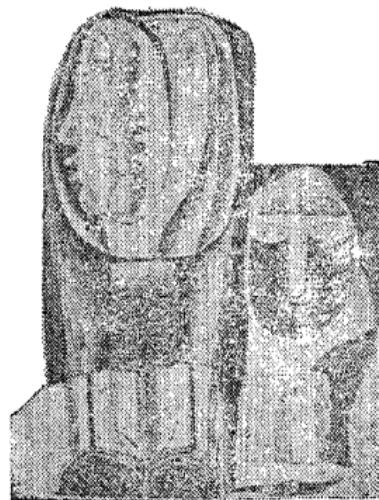
अन्तिम संस्कार

रमेश बतरा

पांच अप धड़धड़ाती हुई गुजर गयी। गति चली गयी, शेष रह गयी एक गूंज, एक अनाम शोर और कसमसाता-सा सन्नाटा।

रेलवे लाइन के पास कंकड़-पत्थरों से भरी पगडंडी पर वे दोनों चले जा रहे थे। साथ-साथ गन्दगी के बदबू-भरे ढेर और उन ढेरों से सटी झुग्गियां और क्लोरोफार्म-भरी ट्यूबों जैसी उन झुग्यों में कैद केंचुए जैसे छटपटाते, अर्द्धचेतन, चेतनालुप्त और मरे हुए तक भी इंसान।

उन दोनों में से एक बुरी तरह खांस रहा था। शायद उसे खांसी का दौरा पड़ गया था। खांसते-खांसते उसका शरीर कांप गया, सांस फूल गयी और टांगें लड़खड़ा गयीं। उसने रेलवे लाइन पर ढेर सारा बलगम उगल दिया।

"अब तो जिंदगी दूभर हो गयी है, पहलवान। इससे तो अच्छा है, भगवान मौत दे दे!" उसने हांफते हुए कहा।

"सर्दी बहुत बढ़ गयी है," पहलवान बोला। वह एक बड़े-से कंकड़ की वजह से लुढ़कते-लुढ़कते बचा।

पहले वाले को रेलवे लाइन के पास एक सिगरेट का टोंटा पड़ा मिल गया। उसने उसे उठाकर सुलगा लिया और उसका एक कश खींचते ही वह फिर खांसने लगा।

"मर जायें तो इन सब झंझटों से छुटकारा हो जाए। न रोटी की फिकर, न सर्दी का डर !"

"अरे रामू के काका, मरना भी तो आसान नहीं !"

"सो तो है, पहलवान !"

मौत की छाया में जिंदगी तलाशते वे लोग रेलवे लाइन के पुल के नीचे बनी झुग्गियों की ओर बढ़ गये।

डूबती शाम का सहमा-सहमा-सा अंधेरा नीचे लटक आया था, जिंदगी की सारी विवशताएं, असमर्थताएं तथा विपन्नताएं काले नाग की तरह कुंडली मारकर उस बस्ती में बैठी हुई थीं। जीने के सारे सूत्र टूटकर बिखर गये थे।

धन्नो फटी धोती से ठंडी हवा के थपेड़ों से अपनी रक्षा करती, मिट्टी की सील-भरी दीवार से टिकी, तार-तार चटाई पर पड़े रामू को ताक रही थी।

"मां, बापू अभी तक क्यों नहीं लौटा ? भैया की तबीयत तो और ज्यादा बिगड़ती जा रही है।" रामू से एक साल छोटी प्यारी की खोखली आवाज झुग्गी के मृतप्राय सन्नाटे को कसमसा गयी।

अभी कुछ दिन पहले दीवाली होकर चुकी थी। छोटू अमीरों की कोठियों के बाहरी सिरों पर जलती हुई ढेरों मोमबत्तियां चुरा लाया था। उसीकी वजह से दस-बीस दिन के प्रकाश का प्रबंध हो गया था। उन्हींमें से एक मोमबत्ती का पीला प्रकाश झुग्गी में फैल रहा था।

रामू का बापू उसके लिए दवा लाने के बहाने खिसक गया था। बाकी के चार बच्चे पास ही के बाजार में मशहूर चाटवालों की दुकान के बाहर रखे कूड़े के डिब्बों से जूठे पत्ते उठाकर चाट रहे थे।

धन्नो को लगा, रामू के बदन में होने वाला हलका कंपन भी बंद हो गया है। वह आगे को झुक गयी। रामू की आंखें मुंद गयीं। उसका बदन बर्फ की तरह ठंडा पड़ चुका था।

धन्नो पल-भर को कांपी। एक गहरी हिचकी उसे आयी। पर बिजली की-सी गति से उसने मौत से समझौता कर लिया।

"प्यारी, वह नासपीटा तो न जाने कहां मर गया ! जा, पहलवान काका को तो बुला ला। घर में मिट्टी पड़ी है।" एक गहरी सांस छोड़कर धन्नो बोली।

"रामू मर गया !" प्यारी बिलख पड़ी।

"चीख काहे रही है, कलमुंही ! वैसे तो बड़ी सावितरी बनती है ! मैं दस नंबर में काम नहीं करूंगी. . .अरी चुडैल, वहां काम करती होती तो रामू की दवा के लिए कुछ पैसे तो मिल जाते !. . .पर तुझे तो वह साहब खा जाता न !"

"मां, दस नंबर वाला साहब बहुत खराब है। पर रामू मर गया. . .छोटू. . .

नहीं मां, मैं कल से काम पर चली जाऊंगी।"

"काम पर जब जाना हो, तब जाना. . .इस समय तो पहलवान काका को बुला ला।"

इससे पहले कि प्यारी उठती, झुग्गी के बाहर खांसी के स्वर गूंज गये।

"आ गया, करमजला !" धन्नो बुदबुदायी। वह विवशता-भरी दृष्टि से शून्य में ताक रही थी। भावना-संवेदना शून्य-सी वह हिमबिंदु बनी बैठी थी। वे दोनों अन्दर आ गये।

"मुक्ति हो गयी बेचारे की !" पहलवान ने रामू के निर्जीव शरीर पर एक नजर डाली।

"कफन के लिए कुछ पैसे हैं ?"

"पैसे ?" धन्नो बुदबुदायी। उसके ओंठों पर एक फीकी-सी मुसकान उभर आयी। उस मुसकान में दुनिया-भर का सारा व्यंग्य तथा विद्रूपता समायी हुई थी।

"पैसे होते तो यह मरता ही क्यों ?"

"कुछ भी नहीं है ?"

"जो जिंदा है, उनकी रोटी के लिए पैसे नहीं हैं और तुम मरे हुए. . .।"

धन्नो ने अपनी बात अधूरी छोड़ दी, उसका स्वर नागफनी का कांटा बन गया।

"पहलवान, चलो, अमीरों की बस्ती से मांग लायें, कहेंगे, घर में जवान लड़के की लाश पड़ी है।"

"बेकार है। नहीं मिलेंगे।"

"क्यों ?"

"उनके लिए हमारी यह मजबूरी बेकार हो गयी है।"

"पहले तो मिल जाते थे।"

"अब वे इसे बहाना समझने लगे हैं। रामू की मां, कोई फटी-वटी चादर हो तो. . ."

"वह तो निकालनी ही पड़ेगी।"

"मैं अभी आया। थोड़े-से बांस-फूस, और दो आदमियों का इंतजाम भी तो करना है।"

पहलवान चला गया। सिर्फ नाम पहलवान. . .पर बदन में हड्डियों के सिवा और कुछ नहीं था।

"क्या सोच रही है, धन्नो ?" रामू के काका की जड़ दृष्टि धन्नो से जा टकरायी।

"कुछ नहीं।"

"कुछ तो सोच रही होगी !"

"कहीं से कुछ आटे का इंतजाम हुआ ?"

"न—हीं. . ."

"फिर कुछ क्षण का कसमसाता-सा मौन, छटपटाती प्यारी की हलकी, दबी-घुटी हिचकियों का धीमा स्वर झुग्गी की रिक्तता को और ज्यादा घनीभूत किये दे रहा था।

"मैं कल से दस नंबर में जाऊंगी।"

रामू के काका ने अविश्वास-भरी दृष्टि से प्यारी को देखा। एक अनाम, अव्यक्त-सी खुशी का स्रोत अंतर में उमगने को हो आया।

"क्या सोच रहा है तू ?"

"कुछ नहीं।"

"कुछ तो सोच रहा होगा।"

"सोच रहा हूं, अच्छा हुआ रामू चला गया. . .एक मुंह तो कम हुआ।"

धन्नो जड़ हुई सब कुछ सुनती रही।

पीपल के पेड़ से किसी पक्षी की मनहूस आवाज गूंजी तो रघु भैरव के मंदिर के चबूतरे से नीचे उतर आया। वह मरी हुई चाल से तीनों वेदियों के पास से गुज़रकर जमुना की ओर जाने वाली सीढ़ियों के पास ठिठककर खड़ा हो गया।

दूर तक मायावी वीरानी व्याप्त थी। क्षय रोगिणी-सी जमुना की धारा पीली रेत के बिस्तरे पर पड़ी छटपटा रही थी।

रघु पलटा। उसने गहरी सांस छोड़कर धन्नो के नीचे तीनों सूनी वेदियों की ओर ताका। वे सचमुच सूनी थीं। एकदम बर्फ की तरह ठंडी—तीन दिन से एक भी मुर्दा नहीं आया था।

रघु के अंतर में रेत-सी घुल गयी। उसका मन वितृष्णा से भर गया। वह बुरी तरह उत्तेजित हो गया।

एक तरफ कहते हैं कि आबादी को बढ़ने मत दो, दूसरी तरफ ससुरे नये-नये अस्पताल खोलकर, दवाइयों के कारखाने लगाकर, नयी-नयी दवाइयां और इलाज के तरीके ईजाद करके लोगों को मरने भी नहीं देते !

पुराने दिन भी क्या थे ! हर साल-दो साल में कोई न कोई महामारी फैल जाती थी। कभी प्लेग, कभी चेचक, कभी मलेरिया. . .उसे वे दिन याद हैं। तब उसके बाबा यहीं थे. . .एक-एक दिन में दो-दो सौ मुर्दे आते थे। तब रोटी छोड़ रोज जलेबियां खाने को मिलती थीं।

और अब ? ऊपर वाला भी कैसे-कैसे मजाक करता है। तीन बार में पांच

बच्चे दे दिये। दो बार जुड़वां। एक लाभ आये, तब दो प्राणियों का पेट नहीं भरता. . .तिसपर घर में सात प्राणी हैं। तीन दिन से एक भी मुर्दा नहीं आया है. . .अगर यही हाल रहा तो. . .

श्मशान पर उतरते गहराते कोहरे के आवरण में रघु प्रेत-छाया जैसा छटपटा रहा था. . .

महंगाई का यह हाल है और ससुर लोगों ने मरना छोड़ दिया है। चारों तरफ महंगाई है, पर सिर्फ इसी धंधे में मंदी आयी है।

जो भूले-भटके मर जाते हैं, वे शहर से दूर इस श्मशान भूमि तक नहीं पहुंच पाते। आधे से ज्यादा तो उस कमबख्त बिजली के श्मशान में पहुंच जाते हैं। आधे शहर के बीच बनी श्मशान-भूमियों से आगे नहीं बढ़ पाते।

जी चाहता है इस बिजली के श्मशान को बम से उड़ा दूं। कल-कारखानों और जिंदा आदमियों को तो बिजली मिलती नहीं, पर मुर्दों के लिए इनके पास बिजली है !

क्या जमाना आ गया है ! लोग अपना धर्म-कर्म तक भूल गये हैं। हर काम में भागदौड़, जल्दबाजी। आदमी मरा नहीं कि जल्दी-जल्दी उसे बिजली से फूंक-कर भाग गये। यहां तक आने की किसे फुर्सत है ? जितना टाइम यहां तक आने में लगेगा, उतने में लाखों के वारे-न्यारे हो सकते हैं।

कहीं बिजली से फुंकने में मुक्ति मिलती है ? मुर्दे को बिना गंगा-जमुना में नहलाये कहीं उसकी मिट्टी संवरती है ? पर आजकल के नास्तिक लोगों को अंतिम क्रिया-करम भी ठीक से करने की फुर्सत नहीं !

रघु पलटा। उसने लकड़ी की सूनी टाल की तरफ देखा। खचेरू टाल के दरवाजे के पास ऊंघता-सा बैठा बीड़ी फूंक रहा था।

रघु ने खचेरू को देखा और तमतमा गया।

इस साले खचेरू के लालच ने मरवा दिया, वरना पिछले साल तक सब कुछ ठीक था। बिना मुर्दों के आये भी काफी आमदनी हो जाती थी।

सरकार ने लावारिस लाशों के अंतिम संस्कार के लिए लट्ठे और लकड़ियों की मंजूरी दे रखी थी। एक-दो लावारिस लाशें आतीं। एक-दो और फर्जी। अंतिम संस्कार हो जाता। बिना लट्ठे और कम लकड़ियों के साथ काम हो जाता। काफी पैसे बच जाते थे।

पर इस साले खचेरू को ज्यादा लालच चढ़ गया। आटे में नमक की तरह तो बेईमानी खप जाती है, पर नमक में आटा डालो तो पकड़े ही जाओगे। रजिस्टर में रोज आठ-दस लावारिस लाशों के अंतिम संस्कार दर्ज होने लगे। सरकार को शक हुआ। खुफिया जांच-पड़ताल हुई। लावारिस लाशें मेडिकल कालेज में भेजी जाने लगीं।

कई बार जी चाहता है···मुर्दे आयें या न आयें, मैं इस खचेरू के बच्चे का गला दबाकर इसका यहीं अंतिम संस्कार कर दूं !

रघु भुनभुनाता हुआ अपनी अनमापी विपन्नता के इतिहास को दोहराता रहा। उसने हसरत-भरी निगाहों से उन तीनों सूनी वेदियों को देखा और मरी चाल से, दोनों बिवाइयों से भरे पांवों को घसीटता हुआ अपनी झोंपड़ी की ओर चल पड़ा।

रात गहरा रही थी और अब किसीके आने का सवाल ही नहीं उठता था।

"राम नाम सत्य है ! सत्य बोलो गत है ! !"

रघु के पांव जम गये। उसकी आंखें चमक उठीं। वह ठिठका और चौकन्नी निगाहों से अंधेरे के आवरण को भेदकर चारों तरफ देखने लगा।

क्या यह वास्तविकता है या भ्रम ?

घने कोहरे और रात के अंधेरे के सायों को भेद पाने में उसकी आंखें असमर्थ थीं। उसकी सारी संज्ञाएं उसके कानों में एकत्र हो चुकी थीं।

"राम नाम सत्य है !"

स्वर पास आ चुका था। यह भ्रम नहीं, नंगी सच्चाई थी। मृत्यु की घोषणा करने वाले इस बर्फीले स्वर ने रघु के मृतप्राय अंतर में नव जीवन की गरमी फूंक दी।

वह खुशी से झूम उठा। पर तभी उसने सोचा, रात के अंधेरे में ये लोग क्यों आये हैं ? कहीं कोई गोल-माल, हत्या-वत्या का केस न हो ?

तब तक वे लोग विश्राम-चबूतरे तक पहुंच गये। पास ही सरकारी बिजली का खंभा था, जिसके छोटे बल्ब की पीली-सी रोशनी में वे लोग उसे साफ दिखाई दे गये। रघु ने अर्थी को देखा। पलक झपकते ही वह सब कुछ समझ गया।

जिस मरने वाले को चौथा आदमी और कोरा लट्ठा तक मयस्सर नहीं, वह रघु गुरु को क्या कुछ दे सकता है ? रघु बड़बड़ाया और उसका दिल डूब गया। उन लोगों ने अर्थी विश्राम-चबूतरे पर रख दी।

"कौन है ? आदमी या औरत ?" रघु ने चबूतरे के पास जाकर पूछा।

"लड़का।"

"कितना बड़ा ?"

"सोलह साल का।"

"कैसे मरा ?"

वे तीनों हंस पड़े—भयंकर मायावी और घिनौना-सा अट्टहास। तीसरा गर्दन झुकाये खड़ा रहा।

"बोलते क्यों नहीं ?" रघु ने उन्हें डांटा।

"मौत आयी और बस मर गया।"

"रात में कैसे ले आये ?"

"रात में जिंदों के लिए तो झुग्गी में जगह होती नहीं···फिर···"

"ठीक है···ठीक है। कितनी लकड़ियां चाहिए ?"

"लकड़ियां ? उनको खरीदने के लिए पैसे कहां है ? जमुना में बहाने की इजाजत दे दो, पंडित जी। तुम्हारा बड़ा उपकार होगा।"

"जमुना में तो बच्चे बहाये जा सकते हैं। पर यह तो पूरा आदमी है ! इसे बहाना गैरकानूनी होगा। तुम्हें लकड़ियां लेनी हो पड़ेंगी।" रघु ने दृढ़ता से कहा। उसने सोचा, खचेरू से ही कुछ कमीशन मिल जायेगा तो किलो-डेढ़ किलो आटे का जुगाड़ लग सकता है।

"क्या भाव है ?"

"बारह रुपये मन। कम से कम चार मन तो लग ही जायेंगी।"

"बाप रे बाप ! मरे हुए को फूंकने के लिए भी पचास-साठ रुपये चाहिए ! इत्ते पैसों में तो महीने-भर का आटा आ जायेगा।"

अनायास काले बादलों के बीच जैसे सुनहरी बिजली चमक गयी। रघु का अंतर जगमगा गया।

"तो तुम्हारे पास इतने पैसे नहीं हैं ?"

"पैसे होते तो फिर बात ही क्या थी ?"

"ठीक है ! तुम मुर्दे को छोड़ जाओ।"

"सच !" पहलवान बोला।

"तुम इसका क्या करोगे ?"

"परोपकार।"

"भगवान करे, तुम जुग-जुग जियो, पंडित जी।"

भारमुक्त हो वे चले गये।

रघु हुमक उठा।

"जय भैरव बाबा की !" वह चीख पड़ा और सोचने लगा, भैरव बाबा की कृपा हुई तो इन पांचों पिल्लों को रोटी तो मिलेगी ही, दो-दो जलेबियां भी पल्ले पड़ जायेंगी।

"कहा पंडित काका, यह माजरा क्या है ?" तब तक खचेरू उठकर रघु के पास आ खड़ा हो गया।

"खचेरू, चबूतरे पर अर्थी रखी है। तनिक ध्यान रखियो। मैं अभी आधे घंटे में आया।"

"तुम चल कहां दिये, काका ?" खचेरू ने खांसते हुए पूछा। रघु ने कोई

उत्तर नहीं दिया। उसमें तो जैसे नयी जिंदगी आ गयी थी। श्मशान से बाहर आकर वह कुछ ही दूर पर बनी अपनी झोंपड़ी के पास पहुंचा। बगल की झोंपड़ी में दीनू रहता था। वह सुबह अखबार बांटता है। उसके पास साइकल है।

रघु ने दीनू से साइकल मांग ली। वह सीधा प्रोफेसर कुलश्रेष्ठ की कोठी की ओर रवाना हो गया।

वह काफी तेज रफ्तार से साइकल चला रहा था। उसे पुराने मेडिकल कालेज की याद आ रही थी। वह तब मेडिकल कालेज में लाशों की सप्लाई किया करता था। हर लाश पर उसे दस रुपये मिलते थे। तब सस्ता जमाना था। जल्दी ही उसका यह धंधा चौपट हो गया। मेडिकल कालेज को एक अस्पताल से जोड़ दिया गया। अस्पताल में ही इतने लावारिस लोग मरने लगे कि कालेज वालों को विद्यार्थियों को चीरफाड़ सिखाने के लिए शवों की कमी नहीं रही।

अभी एक साल पहले पास ही में शहर से काफी दूर एक नया मेडिकल कालेज खुला था। भैरव बाबा की कृपा से कालेज के साथ कोई अस्पताल नहीं जुड़ा था। वह भागा-भागा प्रोफेसर कुलश्रेष्ठ साहब के पास गया था। उसने उनसे मुर्दों के लेने का आग्रह किया था।

"भई, हमारे पास अन्य अस्पतालों से शव आ जाते हैं। अगर कभी जरूरत हुई तो हम तुमसे संपर्क कर लेंगे। तुम भैरव श्मशान घाट वाले हो न?"

"जी हां", तब रघु ने भरे स्वर में कह दिया था।

उस समय प्रोफेसर साहब टाल गये थे। आज वह प्रोफेसर से ऐसी विनती-चिरौरी करेगा कि उनसे न करते नहीं बनेगा। फिर कम से कम बीस-तीस तो कहीं नहीं गये!

रघु प्रोफेसर साहब की कोठी में पहुंच गया। वह पाइप पीते हुई अपने लान में टहल रहे थे। उनका शक्तिशाली अलसेशियन कुत्ता पोर्टिको में बंधा था। रघु को अंदर आता देख वह जोर-जोर से भौंकने लगा।

"नो वाल्टर...नो!" प्रोफेसर साहब ने पाइप निकालकर कहा। वह रघु की ओर बढ़ आये। फिर उन्होंने पूछा, "कौन हो?"

"हुजूर, मैं रघु हूं। वही भैरव श्मशान घाट वाला।"

"ओ हां, रघु! कहो, कैसे आना हुआ?"

"हुजूर, एक बार तो सेवा का मौका दे दीजिए! सिर्फ एक ही है। बड़ी उम्मीद ले कर आया हूं।"

"रघु, हमने तुमसे पहले भी कहा था कि यहां कोई स्कोप नहीं है। तुम तो जानते ही हो, हमारे लिए लाशों की कोई कमी नहीं...लोग मरते हैं...धड़ल्ले से मरते रहते हैं...सड़क-दुर्घटना में, भूख से, झगड़ों में, शीत-लहर से, लू से,

बाढ़ से, दिल टूटने से, मिलावटी दवाओं से, विषैली शराब से. . ."

रघु सोच में डूब गया—इत्ते सारे लोग मरते हैं ! पर मरकर वे कहां गायब हो जाते हैं ? पर उसपर इस तर्क का कोई असर नहीं हुआ।

"हुजूर, आज एक तो ले लीजिए। मैं बड़ी आशा लेकर आया था। घर में अन्न का एक दाना भी नहीं है।"

"तुम्हारी समझ में क्यों नहीं आता ?"

"हुजूर, नौजवान लड़का है। एकदम ताजा लाश है। कहीं कोई बदबू, घाव, खून नहीं. . .आप देखेंगे तो. . ."

प्रोफेसर कुलश्रेष्ठ पाइप पीते रहे। वह कुछ नहीं बोले। विचारमग्न-से वह इधर-उधर टहलते रहे। फिर उन्होंने जेब से एक नोट निकालकर रघु की ओर बढ़ाते हुए कहा, "ठीक है। हम उसे मंगवा लेंगे। यह लो तुम्हारा इनाम।"

रघु ने हुलसकर वह नोट थाम लिया। पर वह कितना हलका नोट था।

"कुल पांच रुपये, हुजूर ? हुजूर. . .माई-बाप. . .दस साल पहले तो दस रुपये का रेट था।" रघु ने डूबे स्वर में कहा।

"तो क्या अब सौ रुपये चाहिए ?" प्रोफेसर साहब का स्वर चिड़चिड़ा हो आया।

'हुजूर, आजकल महंगाई का जमाना है। गेहूं तीन रुपये किलो, भुने चने सात रुपये. . .लकड़ियां बारह रुपये मन. . ."

"तो तुम्हें जहां ज्यादा पैसे मिले, वहीं चले जाओ। लाओ, नोट वापस करो।"

रघु घबरा गया। उसने नोट को कसकर मुट्ठी में भींच लिया और दो कदम पीछे हट गया। वह सोच रहा था—और चीजों के स्टॉक दबाओ तो दो के चार हो जाते हैं पर इसे रोकने पर. . .सुबह पांच रुपये की जगह पांच पैसे भी नहीं मिलेंगे।

"अब तुम जा सकते हो, रघु ! हम शव को मंगवाने का प्रबंध करते हैं।"

रघु चलने को हुआ तो प्रोफेसर साहब ने कालेज के आपरेशन थियेटर की ओर बढ़ते हुए कहा, "रघु, चीजों के दाम डिमांड और सप्लाई पर निर्भर करते हैं।"

रघु लौट पड़ा। उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। साइकल उसके पास थी। फिर भी वह शोकमग्न-सा पैदल चला जा रहा था। उसे लग रहा था जैसे वह भी आज किसीका अंतिम संस्कार करके लौट रहा है।

स्वागत

श्रीपाल केवल

इस बार सर्दी की लहर बड़ी तीखी, तेज और जिस्म को काट देने वाली थी। तीन दिन की लगातार बारिश से उसमें और भी इजाफा हुआ था। राजेन्द्र ने अपने तमाम जिस्म में सुइयां-सी चुभती महसूस कीं। कमरे में गाढ़ा अंधेरा तैर रहा था। बाहर की तेज हवा और मूसलाधार बारिश ने माहौल को बहुत ही ठंडा और जानलेवा बना दिया था। दिन-भर पार्टी का काम करते हुए उसके सारे कपड़े भीग चुके थे और अब वह घुप्प अंधेरे में अपने जिस्म के इर्द-गिर्द पोस्टर, पुराने अखबार और सूती कपड़ों से बने झण्डों को लपेटे बैठा था।

लगातार दो हफ्ते की बेकारी के बाद आज सुबह ही उसे पार्टी-आफिस में मजदूरी का काम मिला था और तमाम दिन उसे एक जगह से दूसरी जगह दरियां, लाउड-स्पीकर वगैरा उठाकर लाने-ले जाने पड़े थे। उसने किसीसे कुछ नहीं पूछा था। पार्टी-सेक्रेटरी ने जैसा कहा, उसने अमल किया। मगर वह इतना जरूर समझ गया था कि बाहर से कोई बड़ा आदमी आने वाला है, उसी सिलसिले में जलसा होगा और जुलूस निकलेगा।

जब इंतजाम मुकम्मिल हो गया तो अचानक टेलीग्राम आया—जिन्हें आना था, वह एक दिन लेट हैं। पार्टी-सेक्रेटरी

के हुक्म मुताबिक उसे भीगते और ठिठुरते हुए जलसाघर से सभी सामान खुली बैलगाड़ी में उठवाकर पार्टी-आफिस लाना पड़ा था। तब तक रात के आठ बजे चुके थे। एक घंटे तक पार्टी के कुछेक कार्यकर्ताओं में राजनैतिक विषयों पर चर्चा होती रही थी और उसके बाद वे एक-एक करके चले गये थे। अन्त में जब पार्टी-सेक्रेटरी जाने लगा था तो उसने देखा था कि राजेन्द्र एक कोने में उकड़ूं बैठा है। वह चन्द मिनट तक उसे घूरता रहा था। फिर दरवाजे की तरफ बढ़ते हुए बोला था, "तुम रात को यहीं रहना चाहते हो ?"

उसने इकरार में सिर हिलाया।

"हूं, अच्छा, तुम सुबह जल्दी उठकर आफिस को साफ कर देना। तब तक मैं आ जाऊंगा। कल सुबह जुलूस निकलेगा।"

राजेन्द्र ने चाहा कि उससे पैसे मांग ले, मगर तब तक पार्टी-सेक्रेटरी जा चुका था। इससे पहले कि वह अपनी जगह से उठे, उसने दरवाजा बन्द होने की आवाज सुनी और साथ ही बाहर ताला लगने का स्वर भी जो फिजा में एक अनु-गूंज पैदा कर गया।

पार्टी-सेक्रेटरी के चले जाने पर वह कुछ मिनट तक गुमसुम अपनी जगह पर बैठा रहा। अचानक दर्द और कंपकंपी की लहरों ने उसे झंझोड़ डाला था। उसने भीगे कपड़े उतारे, पोस्टरों और झंडों को अपने जिस्म पर लपेटा और बत्ती बुझा-कर एक कोने में दुबक गया।

अगरचे रात धीरे-धीरे ढल रही थी, मगर राजेन्द्र को लगा कि वह भी उसकी हड्डियों में बसी भूख और शीत की तरह जम गयी है। रात बेजान है, मुर्दा है। मौत की कल्पना ने उसे झकझोर डाला। यादों की शेल्फ में से एक किताब लुढ़क-कर जमीन पर फैल गयी और उसके उड़ते पन्नों में से एक चेहरा उभरा। यह उसका अपना ही चेहरा था. . .

वह सत्रह बरस का हो गया है। वह खेतों की मुंडेरों पर भाग रहा है। वह खलिहानों के पिछवाड़े आंख-मिचौली खेल रहा है, वह संत जी के पेड़ पर चढ़कर सारी कच्ची अम्बियां तोड़ लाया है। वह सोहिनी-महिवाल और हीर-रांझा के किस्सों को ऊंची तान में अलापता हुआ, सरसों के लहलहाते खेतों की सोंधी-सोंधी मिट्टी में लेट गया है। धीरे-धीरे शाम का आंचल फैल जाता है और वह गांव की तरफ भागने लगता है। मां को देखता है तो दिल अन्दर से गन्ने की पोरी की तरह चिरता महसूस होता है। मां के चेहरे की झुर्रियां और सरसों के पीले फूल-सा रंग जीवन-संध्या का पता देता है। मगर वह क्या करे ? क्या कर सकता है ? उसके पास जमीन नहीं, बैल नहीं और कोई अपना नहीं।

तभी वह बाहर से आये लोगों की बातें सुनता है। शहर में जिन्दगी एक हसीन फूल है, एक नगमा है, शाम की तनहाई में गूंजा बांसुरी का बोल है।

बरसात की झड़ी जैसे एक तेज धूप में भुनी मिट्टी को राहत देती है, शहरी जिंदगी वैसे ही इन्सान के लिए खुशियों और नेमतों का आंचल फैला देती है। एक दिन, बावजूद मां के मना करने पर वह भागकर शहर आ जाता है, एक नयी जिन्दगी की तलाश में।

बर्फीली चोटियों को छूता हुआ सर्द हवा का झोंका जैसे नंगे बदन से टकरा जाये और चेतना बिखेर दे, यही एहसास राजेन्द्र को शहर आने पर होता है। मगर वह हिम्मत नहीं हारता, साहस के दामन को मजबूती से पकड़े रहता है। एक लांड्री में उसे जगह मिल जाती है। रात-दिन वह इस्त्री के काम को सीखने की कोशिश कर रहा है, आग से जूझ रहा है। बहता पसीना और गरम इस्त्री से पड़ी उंगलियों की टीसती गांठों की उसे परवाह नहीं। वह कुछ बनना चाहता है। वह उस दिन की सुखद कल्पनाओं में उंगलियों की टीस को भूलने की कोशिश करता है, जब वह मकान लेगा, मां आयेगी और अमृता. . .! उसके होंठ मुस्कराते हैं। क्या अर्थ है इस मुस्कराहट का ? उसे लगता है इस्त्री के दहकते कोयले फूल बन गये हैं और उनमें से अमृता का सलोना चेहरा उभर आया है। वह उसे छूने के लिए आगे बढ़ता है—वह भागने लगती है। वह उसका पीछा करता है। हवा में झूलते गेहूं के हरे पौधे दूर तक फैल गये हैं और अमृता पगडंडी पर चीखती, गालियां देती और कतल कर देने की धमकियां देती भागी जा रही है। मगर वह रुकता नहीं, क्योंकि उसकी हरेक चीख में, हरेक गाली में, हरेक धमकी में एक आग्रह है—मैं तुम्हारी हूं, मुझे पकड़ लो।

आखिर थककर वह कीकर के पेड़ तले घुटनों में मुंह छिपाकर बैठ जाती है। उसकी सांसों के उतार-चढ़ाव में उफनती नदी का ज्वार है। उसके सांवले चेहरे पर हल्की-हल्की लाली यों फैल गयी है जैसे मटमैले आकाश पर डूबते सूरज की किरणें नाच रही हों। वह उसे आगे बढ़कर छू लेता है और. . .राजेन्द्र एक हल्की चीख के साथ हाथ पीछे खींचे लेता है; क्योंकि हाथ लकड़ी के मुट्ठे पर रखने की बजाय इस्त्री की दहकती प्लेट पर जा पड़ता है। वह दोनों उंगलियों को मुंह से भाप करता सोचता है—मीठी कल्पनाएं डस क्यों लेती हैं ? फूल क्यों अंगारे बन जाते हैं ? अंगारे क्यों राख में बदल जाते हैं ?

गांव से खत आता है—मां बहुत याद करती है, वापस आ जाओ। उसके दिल पर एक टक लगता है। वह अभी बना क्या है ? उसने किया क्या है ? नहीं, वह वापस नहीं जायेगा। फिर एक लम्बी खामोशी को तोड़ता हुआ अमृता का पत्र—"मां मर गयी।" चन्द मिनट पहले उसने इस्त्री में कोयले भरे थे। उसमें से धुआं उठ रहा था। शायद कोई कोयला अधपका रह गया था, वही धुआं दे रहा था। राजेन्द्र को लगा उसकी जिन्दगी अब एक धुएं की लकीर है, कड़वे धुएं

की, मिट जाने वाली एक लम्बी रेखा। उसने मन में झांका। जहां टक लगा था, वहां गहरा घाव बन गया था। उसने अपने दायें-बायें शीशे की अलमारियों में करीने से पड़े सफेद कपड़ों को देखा। लगा ये अभी कफन बनकर उसको दहकती इस्त्री में एक कीड़े की तरह फेंक देंगे।

राजेन्द्र जब गांव में एक हफ्ता रहकर वापस आया था तो उसका घाव नासूर बन चुका था। अमृता कहीं दूर जाने वाली थी—इतनी दूर कि वह उसकी सांसों के जलतरंग को तो सुन सकता था, मगर उसको छू नहीं सकता था।

यादों की शेल्फ में से गिरी किताब के शेष पन्नों पर दर्द की तस्वीरें हैं, टूटन और बिखरन के निशान हैं, भूख और परेशानी के नुकीले नाखूनों की खरोंचें हैं और मेहनत के गले में नफरत की बेड़ियां हैं। वह इन पन्नों को नहीं पढ़ना चाहता।

बाहर पानी बराबर बरस रहा था। हवा एक जालिम हाकिम की तरह चीखती हुई चल रही थी। उसका तमाम जिस्म सर्द हवा का एक हिस्सा बन गया था। खून की हरकत मंद पड़ रही थी। लगा, छाती में कोई चीज़ 'घर्र-घर्र करके चल रही है। एक हथौड़ा-सा है जो सांस की स्वाभाविक कड़ियों को तोड़ने के लिए 'छन्' से बज उठता है। उसकी सम्पूर्ण चेतना पर कुलबुलाहट का कुहरा छाने लगा। उसने कोशिश की कि हिले-डुले, मगर जिस्म बर्फ की सिल्ली-सा जम चुका था।

बाहर बारिश तेज हो गयी थी।

सुबह होते-होते बारिश बन्द हो गयी। बादलों को चीरकर धूप गीले-ऊंचे मकानों और पेड़ों, खुले मैदानों और भीगी सड़कों पर फैल गयी।

पार्टी-सेक्रेटरी ने ताला खोलकर दरवाजे पर एक ठोकर लगायी। दरवाजा एक कराह के साथ खुल गया। सेक्रेटरी के आने से पहले जो पार्टी-वर्कर बाहर खड़े थे, वे उसके साथ ही अन्दर आ गये थे। राजेन्द्र अभी तक सोया पड़ा था—एक गहरी नींद। पार्टी-सेक्रेटरी की त्यौरी चढ़ गयी। वह मुंह में बुड़बुड़ाने लगा। फिर उसने एक वर्कर को हाथ से इशारा किया। वर्कर ने झपटकर झण्डे, पोस्टर और अखबार राजेन्द्र पर से उतार फेंके। मगर तब तक हथौड़े का अन्तिम वार हो चुका था। कड़ियां टूट चुकी थीं। राजेन्द्र वहां मरा पड़ा था।

चन्द मिनट की खामोशी। फिर झुंझलाहट से भरा पार्टी-सेक्रेटरी का स्वर, "तुम लोग यहां खड़े क्या कर रहे हो? जल्दी करो। नौ बजे तक जुलूस को स्टेशन पर पहुंचना है।"

वे सभी इधर-उधर बिखर गये।

पार्टी-सेक्रेटरी ने पुलिस को फोन किया और बाहर निकल आया। हुजूम हाथों में माटो, झंडे और गत्ते के बड़े-बड़े चौकोर टुकड़े उठाये था। पार्टी-सेक्रेटरी का इशारा हुआ और हुजूम एक लम्बी कतार की शक्ल में भीगी सड़क पर अजदहे की तरह रेंगने लगा। जुलूस नारे लगाता हुआ स्टेशन की तरफ बढ़ा जा रहा था, जहां उसे 'सामूहिक विकास प्रदर्शनी' का उद्घाटन करने के लिए आने वाले मिनिस्टर साहब का स्वागत करना था।
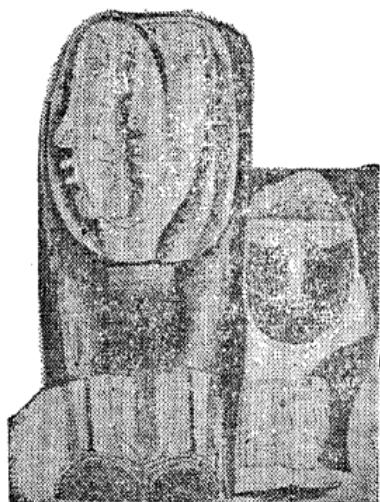
खंडहर

स्वदेश कुमार

कुछ तो यह पहाड़ी इलाका था और कुछ लगातार बारिश होती रही थी जिसकी वजह से हवा थोड़ी खुनक हो गयी थी।

शायद इस खुनकी का आभास मेरे दोस्त को भी हुआ था क्योंकि उसने रेस्ट हाउस में कदम रखते ही पूछा था, "चलेगी ?" उसके पास चार रम की और एक गुलाब की बोतल थी। इसके अलावा वह साथ में पोर्क और मछली के सील बंद डिब्बे भी लेता आया था।

इत्तफाक से बारिश जल्दी ही थम गयी और उसने नन्ही-नन्ही फुहार की शक्ल ले ली। हमने बारजे में कुर्सियां डलवा लीं और वहीं फुहार में बैठ गये। हरियाली दूर-दूर तक, बल्कि क्षितिज से भी परे तक, फैली हुई थी और लगता था जैसे खंडहर उसीमें से उगे हों। खंडहरों के आस पास, बल्कि उन्हें घेरे हुए, ताल-तलैयां भी जैसे हरियाली का अंग बन गये थे।

शायद बात हरित क्रांति से उठी थी और होते-होते जन-क्रांति तक जा पहुंची थी। मेरे दोस्त को लग रहा था कि हरित क्रांति चाहे किन्हीं मानों में असफल रही हो, जनक्रांति अब रुकेगी नहीं, और अपने कथन की पुष्टि में उसने उन सब घटनाओं को फिर से जिंदा कर दिया था जिनसे देश के कई

कोनों में भूकंप-से आये थे और कहीं कहीं बारूदी धमाके भी हुए थे।

"पर मैं तुमसे सहमत नहीं हो सकता," मैंने यूं ही अपनी बात को तूल देते हुए कहा था, "इस देश में जहां कि प्रबुद्ध वर्ग हमेशा भीरु बना रहा है, क्रांति के ख्वाब लेना महज खामख्याली है। ईवन द जियोग्राफी ऑव दिस कंट्री हैज बीन अगेंस्ट रिवोल्यूशन !" और मैंने एक सुना-सुनाया वाक्य दुहराकर उसकी तमाम दलीलों का मटियामेट कर देना चाहा था, हालांकि क्रांति का मैं बराबर पक्षधर रहा हूं।

अपनी दलीलों को पुरजोर बनाने के लिए मेरे दोस्त ने कई कलाबाजियां लगायीं, पर आखिर उसे चुप रह जाना पड़ा। वैसे भी जैसे-जैसे उसे चढ़ती जाती है, वह चुप होता जाता है, यद्यपि उसके चेहरे से लगता यही है कि वह बराबर कुछ कहे जाना चाहता है।

फुहार अब और भी कम हो गयी थी और हलके धुएं के-से बादल बड़ी तेज़ी से हमसे टकराते, हमें उकसाते, हमसे दूर उड़े जा रहे थे। हम उठे और नीचे सड़क पर आ गये। पास ही कपूर तालाब था जिसकी सीढ़ियों पर बैठकर हम कुछ देर तक उसकी सतह पर बड़ी फुर्ती से एक-दूसरे के पीछे लगी लहरों को देखते रहे। लहरों से जी ऊबा तो हम खंडहरों में घूमने लगे और उनकी सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगाने लगे। हिंडोला महल, शाही महल और फिर जल महल। शाही महल के बीचोंबीच चंपा बावड़ी थी जहां चमगादड़ों की बीट से तीखी गंध उठ रही थी। जल महल शायद किसी सुलतान की गर्भिणी बेटी को अलहदगी मुहैया करने के लिए बनवाया गया था।

जल महल से हम जहाज महल की तरफ चले आये। एकदम सीधी सीढ़ियां थीं और फिर एक बहुत ही वसीह कमरा, जिसके ऊपर की छत न जाने कैसे उड़ गयी थी। कमरे के दूसरे सिरे पर एक बारजा था जिसके ठीक मध्य में एक कुंड था। बारजे से नीचे भी एक कुंड था, जिसके कटाव कुछ ज्यादा तराशे हुए थे, बल्कि गौर से देखने पर योनि के आकार के दिखते थे। कुंड के चारों ओर थोड़े-थोड़े फासले पर, दोतरफी सीढ़ियां थीं जिनपर बैठी सुंदरियों को शायद बादशाह सलामत कुंड में नहाते समय देखते-भोगते रहे होंगे।

ये सब पुरानी बातें थीं, पर फिर भी ताजा लग रही थीं। मेरी आंखों के सामने रह-रहकर दिल्ली और बम्बई के उन बड़े-बड़े होटलों के दृश्य घिर रहे थे जहां आज की काली दुनिया के राजा-महाराजा, अपने घनीभूत क्षणों की तथाकथित कमाई के सैलाब-कुंड में तैरते, अपने चारों ओर घिर आयी सुन्दरियों के रूप-सौंदर्य को देखते-परखते ही नहीं, वक्त-बेवक्त उसकी नीलामी भी लगाते रहते हैं।

कुंड को कुछ देर तक देखते रहने के बाद हम फिर हाल कमरे को पारकर

उन्हीं सीढ़ियों पर आ गये थे जिनकी सीधी चढ़ाई चढ़कर हम जहाज महल में दाखिल हुए थे। तेज हवा बादलों को उड़ा ले गयी थी, जिससे वातावरण में निखार-सा आ गया था। हरियाली अब जगमगाती-सी दिखती थी।

हम वहीं बैठ गये, उन्हीं सीढ़ियों पर। दिन डूबने को हो रहा था। तभी देखा हमारे सामने एकाएक एक लड़का आ खड़ा हुआ है। गंदा-गंदा-सा, मैला, गाढ़े का कुर्त्ता पहने हुए, जो मुश्किल से जांघों तक पहुंच पा रहा था। इसके अलावा उसके पास कोई परिधान न था।

हमारी उसपर नज़र पड़ते ही वह मुस्कराया जिससे उसकी गंदी आकृति और नुमायां हो उठी।

"कहो, क्या बात है ?" मेरे साथी ने कहा।

"कुछ नहीं," उसने निरीहता से अपना सिर हिलाया।

"तब क्यों खड़ा है ?" साथी ने डांटा।

इससे वह लड़का हसरत-भरी आंखों से हमारी अंगुलियों में धुआंती सिगरेटों की ओर देखने लगा और फिर धीमे से बोला "सिगरेट पिऊंगा।"

"साले, अभी से सिगरेट !" साथी ने एक और डांट पिलायी जिससे उसकी दुबली-पतली काया कुछ सहम गयी। पर उसकी दृष्टि हमारी सिगरेटों पर वैसे ही टिकी हुई थी।

इसपर साथी ने नीचे की सीढ़ी पर फेंके सिगरेट के एक टोटे की ओर इशारा करते हुए कहा, "वह ले लो।"

लड़के ने टोटा उठाया, पर वह बुझ चुका था। तब मैंने उसे अपने हाथ का टोटा दे दिया जिसपर वह बड़े इत्मीनान से कश लगाने लगा।

"अरे, क्या काम करता है तू ?" मैंने उसकी नंगी टांगों की ओर देखते हुए पूछा। साथी ने भी रुचि दिखायी।

इतने में पास से कुछ सैलानी अपने ट्रांजिस्टर पर कोई उचकचाने वाली धुन सुनते निकल गये। उनमें ज्यादा लड़कियां थीं जो तरह-तरह के लिबास पहने हुए थीं। कोई मैक्सी में थी, कोई बेलबॉटम में, और कुछ ने गरारे भी पहन रखे थे। उनके साथ कुछ लड़के भी थे जो अधिकतर बेलबॉटम-धारी थे।

खैर, अपनी टांगों की ओर इस तरह देखे जाने से लड़के को कोई संकोच नहीं हुआ। उसने बड़ी सादगी से कहा, "सामने रेस्ट हाउस का खानसामा जो काम कहता है, कर देता हूं।"

"कैसा काम ?"

"बाजार का। दिन में दो-चार बार हो आता हूं।"

"और इसके बदले तुझे क्या मिलता है ?"

"दो-तीन बीड़ियां।"

"बस ?" मैंने ताज्जुब जाहिर किया।

"खाने को रोटी या चाय वगैरा नहीं देता ?" साथी ने फिर टोका।

"नहीं।"

"और क्या करता है ?" साथी उसे कुरेद रहा था।

"कुछ नहीं।"

"हुश साले, झूठ बोलता है। छोरी नहीं लाता ?"

"नहीं।"

"फिर झूठ ?" मेरे साथी ने जैसे उसे हलका कोड़ा लगाया।

लड़का बक पड़ा "लाता हूं। चाहिए ?"

"हां, कितने पैसे लेती है ?"

"चार, दो, एक। जिससे जो मिले।"

"हमसे क्या लेगा ?"

"एक छोरी का, एक अपना। छोरी को अभी जाकर दे आऊंगा।"

"वह क्या अभी आ जायेगी ?"

"हां।"

"कितने बरस के हो तुम ?" मेरा प्रश्न।

"होगा दस-एक साल का।" मेरे साथी का उत्तर। फिर साथी ने समर्थन चाहा, "क्यों बे, ठीक है न ?"

"हां।"

"साले, दस बरस का हो गया, अभी तक नंगा घूमता है ?" साथी ने फिर घुड़का। "अच्छा बोल, तेरी बहन कितनी बड़ी है ?"

"उसकी तो शादी हो गयी।"

"क्या उसको ला सकेगा ?"

लगा लड़के की हाजिरजवाबी कहीं गुम हो गयी है। कुछ रुककर बोला, "वह उस पार रहती है। वह छिनाल नहीं है।"

"और यह छिनाल है ?"

"हां", उसकी हाजिरजवाबी फिर लौटने लगी थी।

"इनके खेत नहीं हैं ?"

"हैं।"

"तो यह वहां काम नहीं करती ?"

"करती है।"

"तब ?"

"खेत से क्या मिलता है ? जो मिलता है वह साहूकार को चला जाता है।"

"इनके घर में और कोई नहीं ?"

"है क्यों नहीं, इस छोरी का बाप है।" फिर थोड़ा रुककर बोला, "वह देख लेगा तो जान ले लेगा।"

"तब कहां करेंगे ?"

"नीचे कोठरियां हैं, यहीं।"

"और वहां अगर कोई आ निकला तो ?"

"मैं देखता रहूंगा।"

मेरे साथी ने फिर अपना तेवर बदला, "अबे तू तो एक रुपया मांगता है। एक रुपया तो बहुत होता है।"

लड़का कुछ सोचने लगा। फिर बोला, "अच्छा, जो ठीक लगे दे देना। आठ आने दे देना।"

"और तुझे ?"

"कुछ भी।"

इतने में सीढ़ियों के पास एक कार आकर रुकी। उसमें से खिलखिलाने की आवाज आ रही थी। फिर उसमें से एक-एक करके लोग बाहर आने लगे। तीन जोड़े थे। सभी चुस्त पोशाक में थे। उनमें लड़कियां ज्यादा चुस्त, बल्कि पारदर्शी पोशाक में। कार में से बाहर निकलकर उन्होंने अपने-आपको झटककर थोड़ा और चुस्त बना लेना चाहा और फिर एक-दूसरे की कमर में हाथ डालकर खंडहरों की ओर बढ़ने लगे।

"जाओ उनके पास जाओ," मैंने कहा। "उनसे तुम्हें काफी पैसे मिल जायेंगे।"

"नहीं, वो नहीं देते।" लड़के ने यथार्थ भाव से कहा, "वे अपने-आप सब कुछ कर लेते हैं। वहां भीतर जाकर पहले शराब पियेंगे और फिर. . ."

"पता नहीं इनके पास इतना पैसा कहां से चला आता है ?" मैंने अपनी भड़ास निकालनी चाही।

"प्यारे, यह हाथ की सफाई है, हाथ की।" मेरे साथी ने मेरा ज्ञान-वर्द्धन करना चाहा, "है हिम्मत तो तुम भी आगे बढ़कर कुछ कर दिखाओ। दूसरों को देखकर खाली जलने या ठंडी आहें भरने से कुछ नहीं मिलेगा।"

मेरा साथी भी, दरअसल पिछले दो-तीन सालों से लाखों में खेलने लगा है।

लड़का अब तक वहीं जमा खड़ा था।

"अच्छा, कौन जात हो तुम ?" मैंने ऐसे ही एक सवाल पूछ डाला, यद्यपि मैं जानता था कि यह एक बेहूदा सवाल है।

"भील हूं", लड़के की आश्वस्ति लौटने लगी थी।

"अरे, भील होकर यह काम !" मेरे साथी ने उसे टंकारा।

इसपर लड़के के चेहरे पर कुछ लाचारी-सी घिर आयी। उसके होंठ फड़-

फड़ाने लगे और वह अपनी आश्वस्ति फिर खोने लगा, "मेरी मां मूली के गट्ठर सिर पर लादे-लादे तीन गांवों में घूम आयी, मगर किसीने हमें जवार नहीं दिया घर में नमक भी नहीं है।"

मेरी आंखों के सामने अब इस प्रांतर में घूमते समय एक उपनगर के चौक में खड़ी देखी तीन आकृतियां उभर आयीं। तीनों के पास लम्बी-लम्बी लकड़ियों के तीन गट्ठर थे जिन्हें उन्होंने सीधे जमीन पर टिका रखा था और खुद भी उनके पास वैसे ही ठठरी बनी खड़ी थीं। वह दृश्य काफी देर तक मेरी आंखों में कसमसाता रहा था।

"यार, चलते हैं," मैंने साथी को चेताते हुए कहा।

हम उठ खड़े हुए और सीढ़ियां उतरने लगे। वह लड़का हमारे आगे-आगे उतर रहा था।

अभी हम सारी सीढ़ियां उतरे भी न थे कि लड़का रुका और दूर से आती एक लड़की की तरफ इशारा करते हुए बोला, "यही है।"

हम सड़क के किनारे खड़े-खड़े आने वाली लड़की की राह देखते रहे। वह जब पास आयी तो मुझे वह निहायत कमज़ोर-सी लगी, कमसिन-सी। उसके चेहरे पर चेचक के दाग थे और एक आंख भी संभवतया खराब हो चुकी थी।

लड़के ने लड़की को आंख मारी। प्रत्युत्तर में लड़की मुस्करा दी और बिना रुके उसी तरह आगे बढ़ती रही।

वह चली गयी तो साथी ने कहा, "चल सकती थी।"

और मुझे लगा कि खंडहरों में जैसे कोई एकाएक चीत्कार कर उठा हो और लहूलुहान हुआ हमारी तरफ दौड़ा चला आ रहा हो।
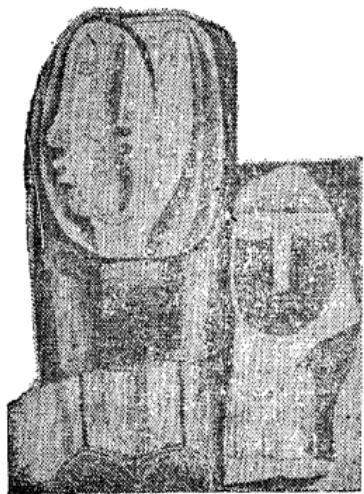
छिपे हुए हाथ

सच्चिदानन्द धूमकेतु

पूरे दो वर्ष बाद छंगुरी गांव लौट रहा था। सूखी नदी में पांव रखते ही चिरपरिचित गांव की सोंधी महक भकभकाकर उसके नथुने में घुसने लगी। पीपल वृक्ष के साये में पगुराते डांगरों की रखवाली करने वाले छोकड़े गिल्ली-डंडे का खेल छोड़कर छंगुरी को देखते ही शोर मचाने लगे।

आधे फर्लांग से अधिक चौड़ी भरगंग के बालू-भरे रास्ते पर चलता हुआ छंगुरी पसीने से तर हो गया था।

गांव बिल्कुल करीब था। बावजूद इसके छंगुरी पीपल के घने साये में सुस्ताने लगा। मवेशी चराने वाले छोकरे उसे चारों ओर से घेरकर खड़े हो गए। एक शोख लड़के ने कहा, "छंगुरी भैया, शहर से इतने दिनों बाद कमाकर लौटे हो, हम लोगों के लिए क्या लाये हो ?"

छंगुरी को उसकी बातें बहुत भली लगीं। वह बोला, "शोर मत मचाओ, मैं तुम्हें लेमनचूस खिलाता हूं।"

पास पड़ी गठरी से लेमनचूस वह बच्चों में बांटने लगा। लड़के तालियां बजाने लगे। आंखों से धूप चश्मा उतार कर उसने एक छोटे लड़के को पहना दिया। लड़का पहले तो हिचका, फिर चश्मे के अंदर अपनी आंखें मिचमिचाकर बोला, —"चारों ओर मेघ ही मेघ लग रहा है। काला भुजंग मेघ,"
दूसरे लड़के भी धूपचश्मा पहनना चाहते थे, लेकिन छंगुरी

ने टूट जाने के भय से उसे अपनी पाकेट के अंदर कर लिया।

थोड़ी देर घने वृक्ष के साये में सुस्ताने के बाद लाइटर से उसने अपनी बीड़ी जलाई और अपने टोले की ओर चल पड़ा। पड़ोस के एक लड़के ने उसके हाथ की गठरी उठा ली थी।

मैं छंगुरी को बचपन ही से जानता हूं। उन दिनों हम लोग साथ-साथ गांव के प्राइमरी स्कूल में पढ़ते थे। हम लोगों को पाठशाला के पीठक पर बैठने की मनाही थी। जुलाहा और चमरटोली के लड़के अपने साथ ताड़ के पत्ते की बुनी छोटी चटाइयां लाते। हेड पंडित जाति के ब्राह्मण थे और ललाट पर हमेशा रामनामी तिलक लगाये रहते थे। हम लोगों को स्कूल के अहाते में बने कुएं की जगत पर चढ़ने और पानी खींचने की मनाही थी। जब कभी हमें प्यास लगती, हम हेड पंडित को कहते। वह लगातार टालते रहने के बाद किसी सवर्ण लड़के को पानी पिलाने का आदेश दे देते। लड़का हमपर मेहरबानी प्रदर्शित करता हुआ उठता और बाल्टी से हमारे सामने पानी गिराता। हम चुल्लू मुंह में लगाकर पानी पी लेते। यह सिलसिला दिन में प्रायः एक ही बार चलता। दूसरी दफा पानी पीने की इच्छा जाहिर करने पर हेड पंडित जी तड़क उठते और पतली लंबी छड़ी सटाक से पीठ पर देने के बाद कहते, "स्साले यहां तुम्हारे बाप का कोई नौकर है जो बार-बार पानी पिलायेगा! मालूम होता है कि सत्तू से अधिक नमक खाकर आया है। पढ़ना तुम लोगों के वश का रोग नहीं है, जाकर हरवाही करो। भैंसें चराओ। दूसरों के पथार में कुदाली चलाओ, जैसे पढ़कर लाट साहब बनेंगे!"

पीतल की तरह दपदप चेहरे पर खोंसी उनकी लाल आंखें देखकर हम लोगों की घिग्घी बंध जाती। उनकी आंखों से अधिक भय उस लपलपाती खजूर की छड़ी का होता जो जाने-अनजाने सटाक-से पीठ पर बैठ जाया करती थी। उनके प्रति मेरे दिल में हमेशा अनादर की ही भावना जमी रहती।

एक दिन मैंने बाबू से उनके बारे में पूछा था। बाबू ने कहा था कि वह धरम करने वाले पंडित हैं और हम लोग डोम-चमार। उस कुएं का पानी अगर वह नहीं पीने देते तो ठीक ही करते हैं। उसी कुएं से वह भी नहाते-धोते और पानी पीते हैं।

हेड पंडित जी हम लोगों की स्लेट कभी छूते नहीं थे। पहाड़ा लिखकर हम दूर से ही उन्हें दिखाते थे। सिर्फ पढ़ते और गलतियां पाने पर किसी दूसरे लड़के द्वारा हमारे गाल पर तमाचे मरवाते। बाबू की बातें सुनने के बाद मेरे मन में पंडित जी के प्रति अनादर का भाव खत्म हो चुका था और मैं भी औरों की तरह उनका आदर करने लगा था।

शनिवार को स्कूल की पढ़ाई सुबह में होती। उस दिन पढ़ाई के नाम पर स्कूल भवन की लिपाई होती। ओसारे, कोठरियों और मिट्टी की दीवारों को

गोबर से लीपा जाता। यह सारा काम मुद्दत से हम लोगों के जिम्मे था। उस समय दूसरे टोले के लड़के तकली कातते, ड्रिल का अभ्यास करते और हम लोग लीपते रहते। उसके बाद गणेश की पूजा होती, गुड़ और चावल मिला हुआ प्रसाद बंटता और हेड पंडित कंधे पर तरह-तरह की गठरियां, जो उन्हें लड़कों से प्राप्त होतीं, लेकर अपने गांव की ओर चल पड़ते। शनिवार को गये वह सोम वार की दोपहर तक स्कूल लौटते। इसी बीच हम लोगों के ऊपर गांव के तहसील-दार का लड़का रौब कसता रहता। अपनी कापी में शरारती लड़कों के नाम नोट कर रखता और मास्साब के आते ही कापी उनकी ओर बढ़ा दिया करता।

पंडित जी का मूड उस दिन प्रायः ठीक रहता। वह छड़ी से सटासट देने की बजाय गलती करने वाले लड़के को मुर्गा बनने के लिए कहते। कान पकड़े घुटने झुकाकर लड़के को तब तक खड़ा रहना पड़ता जब तक कि थककर वह गिर न पड़ता। इस सजा के भागीदार प्रायः हम लोग ही होते। उनकी अनुपस्थिति में तहसीलदार साहब का लड़का हमपर रौब झाड़ता। उसके टोले और ब्राह्मण परिवारों के लड़के तो उससे भय खाने से रहे, लेकिन हम लोगों के ऊपर उसकी धौंस काफी रहती, उसे नाराज करने का मतलब था—हेड पंडित द्वारा पिटाई।

एक बार शनिवार को पाठशाला-भवन की लिपाई हो रही थी। ओसारे की लिपाई का जिम्मा छंगुरी को दिया गया था। हम लोग अपने-अपने काम में जुटे हुए थे, लेकिन वह अपना काम छोड़कर ड्रिल का खेल देखने में लग गया। घंटी बजने के बाद पूजा के लिए सभी ओसारे पर जमा होने लगे। उस समय लिपाई का काम अधूरा ही पड़ा था। अपनी आज्ञा का उल्लंघन होते देखकर पंडित जी गुस्से से बिफर उठे और उन्होंने तहसीलदार के लड़के को छंगुरी की पीठ पर पांच मुक्के जमाने का आदेश दिया।

उनका आदेश पाकर अचानक छंगुरी उठा। आंखें तरेरकर बोला, "आप हम लोगों से ही क्यों सफाई का काम कराते हैं? राजपूत-ब्राह्मणों के लड़कों से यह काम क्यों नहीं कराते?"

फिर क्या था, हेड पंडित जी आपे से बाहर हो गये। उस दिन उन्होंने लक्ष्मण-रेखा पार कर ली और अपने ही हाथों से छंगुरी को घूंसे-लात और मुक्के धमाधम देने लगे। वह मारते हुए बके जा रहे थे, "साला, जबान लड़ाता है! बोली भिड़ाने का मजा चखा देता हूं!"

अचानक छंगुरी की आत्मा विद्रोह कर उठी थी और पास पड़ी एक ईंट उठा-कर उसने हेड पंडित के सिर पर दे मारी थी।

चोट करारी बैठ गयी। खून के फव्वारे छूट पड़े और छंगुरी गालियां बकता पाठशाला से भाग खड़ा हुआ।

मार खाकर पंडित जी हाय-तोबा मचाने लगे। लड़के छंगुरी को पकड़ने के

लिए दौड़ पड़े, लेकिन वह पीछा करते लड़कों पर ईंटों की वर्षा करता हुआ भाग ही गया, वापस वह पाठशाला नहीं आया।

इस घटना के बाद हम सभी हरिजन लड़कों की छुट्टी पाठशाला से हो गयी। लगातार पन्द्रह दिनों तक इधर-उधर छिपे रहने के बाद छंगुरी दिखाई पड़ा था। उस समय उसके चेहरे पर अप्रतिम प्रसन्नता थी। मालूम होता था कि वर्षों की कैद पड़ी छटपटाहट का वह खुलकर इज़हार कर चुका है और उस हादसे से काफी आश्वस्त है। उसकी आंखों में अपने-आपसे तनिक भी शिकायत नहीं थी, बल्कि जर्द होंठों पर तरल मुस्कान तिर रही थी।

हम लोगों की पढ़ाई रुक गयी। रुकी नहीं, बल्कि रोक दी गयी। बहुतों ने तो पहले ही पंडित जी की आंखों का शिकार होकर पढ़ना छोड़ दिया था। टोले के दस-पांच हम लोग थे जो कोपभाजन बनकर भी बस्ते को ढोये चल रहे थे। लेकिन अकेले छंगुरी द्वारा किये गये पाप का प्रायश्चित्त हम सबको भुगतना पड़ा।

तीन-चार वर्षों तक टोले में ही निठल्ला घूमते रहने के बाद मैं चाचा के साथ बाजार में जूते की दुकान पर काम करने लगा और छंगुरी दूसरे लड़कों की तरह जमीन के छोटे-से टुकड़े को गोड़ने-उपजाने में जुट गया।

काका भी तो पुश्तैनी धंधा ही करते थे। आसपास के गांव से मरे हुए मवेशी का चमड़ा खरीद लाते और बाजार के चमड़ा-गोदाम में उसे बेच आते। इससे उन्हें थोड़ी आमदनी हो जाती और अपनी जमीन न होने का संताप उन्हें नहीं सताता।

एक साल इलाके में पशुओं के बीच महामारी फैली हुई थी। धीरे-धीरे बीमारी गांव में भी घुस आयी। बहुत-से मवेशी मरे, डकहा बीमारी थी। रात में वे खूंटे में अच्छे-खासे बंधे रहते। सुबह होते ही उनकी सांसें धौंकनी-सी चलने लगतीं। पेट फूल आया करता और कुछ ही घंटों में वे स्वर्ग सिधार जाते।

अचानक यह बात गांव में फैल गयी कि काका ही अपने रोजगार की खातिर दूर-दराज के गांव से इस छुआछूत के रोग को बस्ती में लाये हैं। फिर क्या था, वह तहसीलदार साहब द्वारा दबोच लिये गये। उनकी काफी पिटाई हुई। टोले के अतिरिक्त सारी बस्ती में उनकी इज्जत उतर गयी।

इस घटना ने काका के दिल को बुरी तरह तोड़ दिया और उन्होंने कच्चे चमड़े का रोजगार बिल्कुल बंद कर दिया। रोटी के लिए बाजार की शरण ली और दुकान में नौकरी कर ली। दिन-भर जूते बनाना और शाम को ताड़ी पीकर मौज-मस्ती में गीत गाते हुए गांव वापस लौटना, बस यही उनकी जिंदगी बन गयी।

कभी-कभी मैं सोचता हूं कि काका इस तरह क्यों टूट गये ? कभी वह अपने-

को टोले का सरगना कहते थे। जो कोई भी दारू-ताड़ी पीता, उसके खिलाफ जाति पंचैती करके, उसका हुक्का-पानी बंद करा देते। प्रत्येक घर से चंदा उगाहकर उन्होंने टोले में पक्का कुआं बनाने की योजना बनायी थी। वह ही अब नशे में धुत होकर अनाप-शनाप बकते हुए गलियों में घूमते। किसीके द्वारा छेड़ दिये जाने पर खिसियाकर कहते, "इस धरती पर उन लोगों की हुकूमत है। हम सारे अपाहिज नशाखोरी के लिए ही तो पैदा हुए हैं। नशा नहीं करोगे तो तुम्हें याद रहेगा कि तुम्हारे सभी अंग साबत हैं, तुम लुंज नहीं हो। उसे भुलाना हो तो नशे में डूबे रहो। भूला देने में ही फायदा है, नहीं तो तुम्हारा अस्तित्व मिट जायेगा।"

धीरे-धीरे मैं भी काका के साथ काम पर जाने लगा। नित्य सुबह उनके साथ पांच मील दूर बाजार चला जाता। हम लोग जूते बनाने वाली एक छोटी-सी दूकान में काम करते थे। वहां अधिकतर चमरौधे जूते ही बनते थे। काका अच्छे कारीगर थे। कभी-कभी जरूरतमंद ग्राहकों को शहरी फैशन के जूते भी बनाकर देते थे।

मैं सुबह से शाम तक चमड़े को सिझाता, कूटता और रेशे छुड़ाता। इतवार को बाजार की दुकानें बंद रहतीं। उस दिन मैं निश्चिंत होकर टोले के दूसरे लड़कों के साथ सारा दिन बिताता। छंगुरी के साथ हम लोग अपने मवेशी-डांगर लेकर पहाड़ियों पर चले जाते। दिन का कलेवा साथ ले लेते। मवेशी ढलान पर कंकरीली मिट्टी में उगी हुई घास चुगते रहते और हम लोग पहाड़ी की चोटी पर आसमान को छूने की कोशिश करते। जंगली फूल नंगी पखुंड़ियां फैलाये हम लोगों की अगवानी करते मिलते। वहां आसमान इतना सटा हुआ दिखाई पड़ता कि शाम के अधबने चांद को मुट्ठियों में पकड़ लाने को जी चाहता। सरकंडे के जंगलों में कलम बनाने के लिए पतली-पतली छड़ियां काटते और छुरियों से तराश कर ढेर सारी कलमें तैयार करते। धूल की परतों में गुम हुई स्कूली जीवन की याद ताजा हो जाती। अचानक सोचने लगते कि इन कलमों का क्या होगा? कौन पढ़ने वाले हैं जिन्हें कलमें दी जायें? टोले के लड़कों को स्कूल जाने की मनाही थी।

सोचते हुए आतंक-भरा दुख हमें चारों ओर से जकड़ लेता। सरकंडे की बनी सारी कलमें फेंक दी जातीं। पिछले कई घंटों की मेहनत बालू के घरौंदे की तरह ढहाकर हम लोग अपने अतीत को भूलने की कोशिश करते। फिर भी कोई अबूझी प्यास हमें बहुत देर तक खदेड़ती हुई थका देने के लिए आमादा दिखती। कभी-कभी छंगुरी कहता, "जब हम बड़े होंगे तो टोले में ही पाठशाला खोलेंगे। वहां दूसरे टोले के लड़कों को घुसने भी नहीं देंगे। और न चंदनधारी हेड पंडित जी को ही जाने देंगे।"

हमें उसकी बातें बहुत अच्छी लगतीं। लगता कि हमारी गरम सांसों में किसीने ठंडी हवा भर दी हो। रात के भीषण तमस से कोई सूर्योदय का ठौर पूछ

रहा हो।

हम लोग स्थिति से समझौता कर अपने में ही खो जाया करते। हमारे चारों ओर ऊंची-ऊंची पहाड़ियां होतीं, चिकनी-नंगी चट्टानें होतीं, गदराये हुए वृक्षों के संवाल और बांसबन में सरसराती हवा होती। ढलान पर मवेशी के गले की घंटियां टुनटुनाती रहतीं। आजाद हवा हमें दुलराती रहती, बंधनमुक्त सांसें हमारे फेफड़ों में अनवरत भरती रहती। वहां न तो तहसीलदार साहब की जलती हुई आंखों का विस्तार होता और न ही हेड पंडित जैसे लोग जिन्हें हमारी देह की गंध से उल्टी होने का डर बना रहता।

छंगुरी के आने की खबर गांव-भर में फैल गयी। उसका बड़ा भाई जागेसर उसके आने की खबर सुनते ही खुशी से झूम उठा था। दरवाजे-दरवाजे जाकर इसकी जानकारी लोगों को दे आया था। छंगुरी की पत्नी दुखनी फूली न समाती हुई टोले की लड़कियों से ठिठोली कर आयी थी।

बाईस वर्षों तक गांव में ही खेत-पथार की रखवाली करने के बाद छंगुरी कलकत्ता जूट मिल में मजदूरी कर रहा था। जिसके घर के लोग रुपये-आठ आने के लिए लालायित रहते, उसके यहां महीने में मनीआर्डर-चिट्ठियों का तातां लग गया था। बाजार के पोस्टमैन बबुआन टोले और तहसीलदार साहब की ड्योढ़ी पर जाने की अपेक्षा हरिजन टोली की गलियों में घूमते नजर आने लगे।

जब कभी पीतल के बटन से लैस खाकी वर्दी वाले पोस्टमैन को गांव की ओर मुड़ते देखते, राजपूत,ब्राह्मणों के पेट में अनपच की बीमारी हो जाती। तहसील-दार साहब के मुंह का स्वाद खट्टा हो जाता और'वह कान पर जनेऊ चढ़ाये उतरती धूप को बड़ी तल्लीनता से देखने लग जाते, मालूम होता कि कोई बहुत बड़ी योजना ज्वालामुखी की तरह उनके हृदय के अंदर ही अंदर उमड़-घुमड़ रही है और वह ऐसी साजिश को मूर्त रूप देने के लिए छटपटा रहे हों जहां सारे अनुपे-क्षणीय तल्ख प्रश्नों का समाधान हो।

आंगन में अमरूद के पेड़ के नीचे मूंज की बनी खाट पर दोनों भाई बैठे थे। जागेसर बीड़ी सुलगाता हुआ बोला, "अगर रुपये हों तो तहसीलदार साहब से चलकर हिसाब कर आओ, महज तीन सौ रुपये के खातिर छः कट्ठे जमीर रेहन पड़ी हुई है। महीने में जो भेजते हो, खाते चले जा रहे हैं।"

छंगुरी की आंखों में स्वाभिमान की रेखाएं खिंच आयीं। दुखनी की ओर आंखें डालता हुआ बोला, "भैया, तुम जाकर हिसाब कर आओ। पाई-पाई चुका दूंगा। तहसीलदार से ही पिंड छुड़ाने के लिए कंपकंपाती जाड़े की रात में भी ओभरटेम काम करते रहे थे।"

उसकी बात सुनकर खुशी से जागेसर के लाल मसूड़े दिखाई पड़ने लगे। मोटे

होंठों से निकली नुकीली आवाजें बड़ी सुखकर लगीं। बीड़ी को खाट की पासी पर रगड़ते हुए वह बोला, "आखिर, जमीन को भी तो तुम्हें ही भोगना है। मेरा क्या है, एक देह-भर। दो शाम भात-नमक और मरन के बाद दो गज मारकीन का कफन। कुछ दिनों तक और कलकत्ता में नौकरी करने के बाद गांव में ही आकर खेती-बारी करो। घर-गृहस्थी चलाओ। तब मैं निश्चित हो लंगोटी पहनकर किसी संत-महात्मा की कुटिया में धूनी रमा लूंगा।"

"नहीं भैया, तुम घर से क्यों निकलोगे? तुम निर्वंश हो गए तो क्या हुआ! मैं तुम्हारे बेटे जैसा ही हूं। मुझे तो याद भी नहीं कि बाबू कैसे थे। तुमने ही तो बेटे की तरह मुझे पाल-पोसकर बड़ा किया।"

छोटे भाई की बातें सुनकर जागेसर की आंखें छलछला आयीं। दोनों आत्मीय सुख भोगते रहे, दुखनी बगल में खड़ी खून के रिश्ते का मधुर आनंद ले रही थी।

जागेसर आश्वस्त होकर बोला, "आज छोड़ दो, थके हुए आये हो। कल हिसाब करने चलेंगे। वहां से ही पलटू मालिक के सराध का भोज भी खाते आयेंगे।"

भाई की बात सुनकर अचानक छंगुरी की भंवें कस गयीं, लेकिन वह कुछ नहीं बोला, भाई के चेहरे पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी की भूख की स्पष्ट छाप दीख रही थी। श्राद्ध और विवाह के जूठे पत्तलों का भोज, आभिजात्य संस्कारों के मुंह से उगले हुए अंधेरे का भोज! इसी अंधकार को टोले के लोग सदियों से चाटते आ रहे हैं। बड़ा भाई आज पकवानों की याद में क्षुधा-पीड़ित हो गया था। उसके बाप और पूर्वजों की सारी आत्माएं इसी अनबुझी प्यास को ले मसान तक गयी थीं। फिर भी यह जालिम भूख नहीं मिटी। उनकी हथेलियों में कितना गहरा सूराख था कि तमाम नैराश्यजनित अंधकार को पीने के बाद भी वे आज तक प्यासे थे।

जागेसर आह्लादित था, "सुनते हैं कि पांच मिठाइयों का भोज है। शुद्ध घी की बनी हुई सारी चीजें हैं। मैं तो आज रात खाना भी नहीं खाऊंगा। तब कल डटकर माल उड़ाया जायेगा। मेरी बात क्या करते हो, टोले के अधिकांश घरों में आज चूल्हे नहीं जलेंगे। दूसरे घरों में गांव-जवार के रिश्तेदार आकर जम गये हैं। मेरे यहां तो पत्तल लूटने वालों की ही कमी है। अगर मेरा तीनों छोड़ा रहता तो आंगन में पत्तलों का ढेर लग जाता। लेकिन विधाता को कुछ और ही मंजूर था।"

जागेसर को अचानक बेटे की याद आ गयी और एक बार उसकी आंखें फिर से गीली हो गयीं। छंगुरी भाई के निष्कपट चेहरे को चुपचाप देखता रहा।

दूसरे दिन जब टोले के लोग श्राद्ध का भोज खाने जाने लगे तो छंगुरी ने उनका रास्ता रोक लिया। उसकी हरकत किसीको भी पसंद नहीं आयी। छंगुरी ने उत्तेजित होकर कहा, "एक दिन भरपेट खाने से तुम्हारी भूख हमेशा के लिए

नहीं मिट जायेगी। फिर क्या जरूरत है कि दूसरे के जूठे पत्तलों को चाटा जाये।"

काका ने कहा, "यह भूख कभी मिटने वाली नहीं है, जो पेट आज तक नहीं भर सका, वह सराध का भोज खाकर नहीं भरेगा। लेकिन सामाजिक परंपरा के अनुसार हम लोगों को जूठी पत्तलों को लूटना है और तुम्हें मना करने का कोई अधिकार नहीं।"

काका अपनी बातों की पुष्टि के लिए उपस्थित लोगों को देखने लगे। सभी-के चेहरे पर खामोश स्वीकृति की स्पष्ट छाप दिखाई दे रही थी। कुछ ने तो भुन-भुनाकर कहा, "भला गांव-जवार की बातों में शहरिया फैशन लादने का कौन-सा रिवाज है? बड़े बबुआ की शादी-सराध में हम लोग जूठी पत्तलों को उठाते रहे हैं। अगर हम छोटी जाति के लोग यह काम नहीं करेंगे तो क्या वे लोग अपने हाथों से पत्तल उठायेंगे?"

छंगुरी निरुत्तर हो गया था। उसे कतई आशा नहीं थी कि सदियों से दमन-चक्र में पिसते रहने के कारण उनकी मानसिकता इतनी टूट चुकी है।

उस दिन मैंने छंगुरी की बातों का समर्थन किया था लेकिन टोले के अधिकांश लोग हमारी खिलाफत करते रहे। जागेसर भाई को भी मन मसोस कर रुक जाना पड़ा। छंगुरी के दिल का आक्रोश देखकर भोज में जाने की उनकी हिम्मत नहीं हुई।

तीन-चार दिन बाद टोले वालों ने हम लोगों को जातिच्युत कर दिया। हम-पर तरह-तरह के व्यंग्यबाणों की वर्षा की गयी। हमें टोले का दुश्मन करार किया गया और टोले की तमाम क़द्दावरी आंखों का शिकार बने, मुझे फिर एक बार छंगुरी के पाप का प्रायश्चित्त करना पड़ा।

सुबह से ही जागेसर बहुत खुश था। दोनों भाइयों के बीच यह बात निश्चित हुई थी कि तहसीलदार साहब के कर्ज का बोझ आज से हमेशा के लिए उतार देंगे और अपनी रेहन पड़ी जमीन वापस ले लेंगे। खानदान के पाप को हमेशा-हमेशा के लिए उतार देने की खुशी में जागेसर मछलियां पकड़ने चल पड़ा था और बांस-भर दिन उगते ही छिवड़ी भरकर मछलियां ले आया था।

अपने छोटे भाई को देखते ही बोला, "आज से इस वंश का नया जीवन शुरू होगा। तुम जाकर तहसीलदार के रुपये चुका दो और रेहन का कागज ले आओ। मैं आज तुम्हें अपने हाथों से मछलियां बनाकर खिलाऊंगा।"

छंगुरी को देखते ही तहसीलदार साहब भीतर से जलभुन गए। चारखाने की रंगीन लुंगी और लंबे बालों से टपकते खुशबूदार तेल पर नजर पड़ते ही उनका दिल ऐंठने लगा।

छंगुरी के आने की सूचना उन्हें मिल गयी थी। उन्हें यह भी पता था कि पलटू बाबू के श्राद्ध में इस छोकरे ने जातिवालों को जूठी पत्तलें न उठाने के लिए उकसाया है।

यह किसीको पसंद नहीं था कि जागेसर अपनी रेहन पड़ी जमीन धीरे-धीरे छुड़ाता चला जाये। सचमुच वह जूट मिल में नौकरी करता हुआ अपनी तेरह कट्ठे जमीन रेहन से मुक्त करा चुका था और अब सिर्फ यही छः कट्ठे गिरवी पड़ी थी।

कल ही तहसीलदार साहब ने अपने कुछ आदमियों के साथ सलाह-मशविरा किया था। सिर से ऊंचा होते पानी को देखकर सभी सशंकित हो उठे थे। पानी का निकास आवश्यक था।

छंगुरी उनके सामने बैठकर लाइटर से बीड़ी जलाता हुआ बोला, "बाबू, मेरा हिसाब कर दीजिए। कल तक ही छुट्टी ली है। ड्यूटी पर वापस जाऊंगा।"

उसकी बातें सुनकर तहसीलदार साहब के रोएं जल उठे। लेकिन उन्होंने अपने चेहरे पर लिजलिजी संवेदना प्रकट करते हुए कहा, "अरे भैया, थोड़ी देर सुस्ता लो। तुम्हारा हिसाब कर देता हूं। तुम्हारे बाबू जब तक जिंदा थे, हम लोग उन्हें ही तुम्हारे गांव का सरगना मानते रहे हैं। तुम कोई गैर थोड़े ही हो? कहो तो तुम्हारे सामने रेहन का कागज फाड़कर फेंक दूं।"

छंगुरी उनकी आत्मीयता देखकर अनजाने ही उनकी ओर खिच गया। दोनों घर-द्वार, जूट मिल और कलकत्ते की रेलमपेल वाली जिंदगी के बारे में घुलमिलकर बातें करने लगे।

अचानक तहसीलदार साहब ने अपना मोहरा फेंकते हुए कहा, "देखो छंगुरी, तुम मेरी बातों का गलत मायने मत लगा लेना। तुम तो घर के लड़के जैसे हो। तुम्हें आगाह करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। क्यों नहीं तुम अपने साथ अपनी बीवी को रखते हो? दस मुंह, दस तरह की बातें।"

छंगुरी की समझ में कुछ नहीं आया। उनके चेहरे पर आंखें गड़ाते हुए उसने पूछा, "क्या बात है, साब? दस मुंह, दस तरह की बातें, आखिर बात क्या है?"

तहसीलदार साहब द्वारा चला गया मोहरा शतरंज के चौकोर खाने में जमकर बैठ चुका था। उन्होंने कहा, "मुझे कहनी तो नहीं चाहिए, लेकिन लोग-बाग कहते हैं कि तुम्हारी बीवी और जागेसर का बुरा संबंध है। देखो भैया, मेरे कहने का मतलब है कि अपनी स्त्री को भी साथ ही रखो तो दूसरे लोगों को बोलने का मौका तो न मिलेगा। इज्जत बार-बार नहीं मिलती।"

तहसीलदार की बातें सुनते ही छंगुरी की उंगलियों में सुलगती बीड़ी छूटकर नीचे गिर गयी। कुछ देर तक वह शून्य मस्तिष्क से उन्हें देखता रहा। उसे महसूस होने लगा कि कोई खौफजदा अंधेरे का सैलाब उसे चारों ओर से जकड़ता जा

रहा है, दुहरे-तिहरे धुंध में वह धीरे-धीरे डूब चुका है और उसके चारों ओर परोक्ष रूप से जागेसर और दुखनी के कहकहे गूंज रहे हैं। वह बोला, "अभी हिसाब-किताब बंद रखिए। मैं जरा इसकी सही जानकारी ले लूं। याद रखियेगा, अगर आपकी बातें सही निकलीं तो मैं अपने ही हाथों से भाई और बीवी के टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा और अगर गलत हुईं तो वे ही हाथ आपकी ओर बढ़ जायेंगे।"

तहसीलदार साहब ने पैंतरा बदलते हुए कहा, "इसमें इस तरह बौखलाने की क्या जरूरत है! जाकर गांव वालों से पूछ लो। एक नहीं, सारे गांव के लोग इस बात को जानते हैं।"

छंगुरी बुझती बीड़ी अपने जूते से मसलता उठ खड़ा हुआ। जिस रास्ते से वह गुजरा, उधर पाठशाला के सामने दो-चार व्यक्ति पुआल पर बैठे धूप में देह सेंक रहे थे। छंगुरी को टोकते हुए एक ने कहा, "तुम तो अपने को इज्जतदार कहते हो, लेकिन बीवी यहां सूने घर में रामलीला करती है, भैंसुर के साथ... छि: छि:।" फिर ठहाकों की अनुगूंज। वह भयाक्रांत हो उठा। वह चाहता था कि टोले तक पहुंचने वाली पगडंडी जल्दी से जल्दी समाप्त हो जाये और वह अंधेरी परतों में घुसकर अपने अस्तित्व को हमेशा के लिए विलीन कर दे।

आंगन में पहुंचते ही उसने देखा कि भाई चूल्हे के पास बैठा मछलियां तल रहा है और दुखनी उसे मदद पहुंचा रही है।

छंगुरी को देखते ही जागेसर बोला—"आ गया? ले आया रेहन का दस्तावेज? तुझे अपने हाथों से आज मछलियां खिलाऊंगा। कड़ू तेल में बनायी हैं। कनियां क्या जानेगी कि तली हुई मछलियों का क्या स्वाद होता है। इसके मां-बाप तो तेल का इस्तेमाल सिर्फ पर्व-त्योहार में ही करते हैं।"

दुखनी बड़े भाई का मजाक सुनकर हंसने लगी थी। निष्कलुष चेहरे पर स्निग्ध मुस्कान बहुत देर तक तैरती रही।

अचानक छंगुरी दुखनी के बाल पकड़कर बोला, "बता तेरे और जागेसर भाई के बीच क्या संबंध हैं?"

सुनते ही कड़ाही पर जागेसर के झुके हाथ ढह गये। ठोकर से चूल्हे पर चढ़ी कड़ाही उलट गयी और सारी मछलियां आग और जमीन पर छनछन की हल्की आवाज छोड़ती हुई बिखर गयीं।

छंगुरी आपे से बाहर हो गया था। दुखनी को जमीन पर पटककर घूंसे-लात से मार रहा था और अपने प्रश्नों को पूछता जा रहा था। जागेसर आंखें तरेरकर बोला, "किसने तुम्हें क्या कह दिया जो अगिया-बैताल बने आये हो? पहले बात तो समझ लो। वे लोग चाहते हैं कि..."

छंगुरी बिना कुछ समझे भाई से उलझ गया और देखते ही देखते दोनों आपस में गुंथ गये। चूल्हे की आग बिखर कर उनकी देह और कपड़ों को झुलसाने

लगी। दुखनी भयभीत नेत्रों से उन्हें देखती हुई चीख-पुकार मचाने लगी। लड़ते हुए आखिर छंगुरी ने अपने भाई को दबोच लिया और उसके मुंह तथा शरीर पर तब तक जलती लकड़ी से प्रहार करता रहा जब तक कि टोले के लोग जमा नहीं हो गये।

जागेसर अस्पताल में पड़ा-पड़ा आखिरी सांसें गिन रहा था। छंगुरी के शरीर में भी जगह-जगह फफोले उग आये थे और बगल की खाट पर पड़ा वह बेहोशी में कराह रहा था। दोनों भाइयों की अवस्था देखकर दुखनी की आंखें रोते हुए सूज गयी थीं। मैं बार-बार दुखनी को चुप कराता हुआ धैर्य बंधा रहा था।

बरामदे में पुलिस तैनात थी और हत्या करने के प्रयास में खाट पर कराहते अभियुक्त छंगुरी पर नजर रखे हुई थी।

अचानक छंगुरी बड़बड़ाने लगा—"मुझे बचाओ। इन हाथों से मुझे बचाओ। ये मुझे दबोचने के लिए चले आ रहे हैं। इन्हीं हाथों ने मेरे भाई को मुझसे अलग कर दिया। अब ये मुझे अपने-आप से अलग कर रहे हैं।"

छंगुरी की खौफनाक बातें सुनकर मैं भी भयभीत हो उठा था। मुझे लगा कि शून्य की परतों से कई छिपे हुए हाथ मेरी ओर लपके चले आ रहे हैं और उनकी गिरफ्त में मेरा गला भी निरंतर कसता चला जा रहा है।
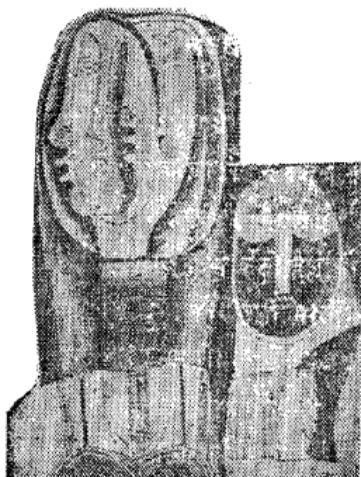
अंतहीन-दो

राम-राम करके किसी तरह गाड़ी चल पड़ी थी।

जून की गर्मी, लू, धूप, मक्खियां, पसीना और भीड़। हवा का कहीं नामो-निशान नहीं। रात को थोड़ी-सी बारिश पड़ गयी थी, जिसने उमस को और भी ज्यादा बढ़ा दिया था। तीसरे पहर की धूप में प्लेटफॉर्म का कोना-कोना चमक और झुलस रहा था और कंपार्टमेंट में ठुंसी हुई भीड़ को देखकर मेरा दम निकला जा रहा था। समझ नहीं आ रहा था यह चौबीस-पचीस घंटों का सफर कैसे तय होगा। वैसे भी यह बोगी गाड़ी में बाद में लगायी गयी थी। कोई गंगा-स्नान चल रहा था और लोग दिनों से स्टेशन पर पड़े हुए थे। इसीलिए रेलवे वालों ने हर गाड़ी के साथ एक-एक, दो-दो अतिरिक्त बोगियां लगाना शुरू कर दिया था।

इन अतिरिक्त बोगियों की हालत भी यह थी कि लगता था, न तो महीनों से इनकी सफाई की गयी है, न इनका कभी इस्तेमाल किया गया है, न इनमें बिजली का प्रबंध था, न पानी का। मदन का स्टेशन पर कुछ लोगों से परिचय था। उसीने किसी तरह मेरा रिजर्वेशन करवा दिया था और फिर कहीं से ढूंढ़-ढांढ़कर एक इलेक्ट्रीशियन को ले आया था, जिसने फ्यूज जोड़-जाड़ दिया था।

मनहर मक्खियों की वजह से परेशान था। एक मोटी-

सी मक्खी बार-बार आकर उसके चश्मे के कांच पर बैठ जाती थी और वह बार-बार झुंझलाकर चश्मा उतार लेता था। चश्मा उतारते ही मक्खी उड़कर इधर-उधर मंडराने लगती थी और उसके दुबारा चश्मा लगाते ही फिर आकर कांच पर जम जाती थी।

"यह साली तो मान ही नहीं रही !" आखिर उसने बेहद खीजकर अपनी हथेली चश्मे के कांच पर दे मारी। मक्खी उड़ गयी, और वह बड़बड़ाकर रह गया, "साली किसी लेनदार की तरह बार-बार अड्डा जमा लेती है !"

"तो देनदार की तरह तुम भी उससे मुंह चुरा जाओ न !" सती ने कहा। इसपर सभी हंस पड़े। मनहर ने एक बार मोटे कांच के पीछे से बड़ी संजीदा नजर से सबकी ओर देखा और चुपके से चश्मा उतारकर जेब में रख लिया।

"अब देखोगे कैसे ?" मदन ने उसे छेड़ दिया। साथ ही वह एक सुराही वाले से बातें करने लगा।

"देखने को है ही क्या ? मक्खियां !" मनहर चिढ़ गया। पर तभी गार्ड ने सीटी दे दी। मदन ने फुर्ती से पानी से भरी एक सुराही मेरे हाथों में थमा दी, जो गिरते-गिरते बची और गाड़ी के साथ चलते-चलते चिल्लाया, "साले, बंबई आऊंगा तो सुराही का एक रुपया वसूल कर लूंगा। छोड़ूंगा नहीं !..."

...और सबके सब हाथ हिलाते प्लेटफार्म पर ही छूटने लगे।

मुझे रिजर्वेशन में दरवाजे के पास वाली अकेली सीट मिली था। मेरी अटैची अभी तक उसपर पड़ी थी। इस डर से मैंने उसे ऊपर की बर्थ पर नहीं टिकाया था कि कहीं कोई सीट ही न हथिया ले। मुझे अटैची नजर नहीं आयी। हां, एक सूरत जरूर उस सीट पर बैठी नजर आयी। मुझे कुछ हैरानी-सी हुई।

मेरी सवालिया नजरें उस चेहरे पर टिकी हुई थीं। चेहरा क्या था, दो मोटी-मोटी आंखें थीं, जिनके कोये एकदम सफेद थे और पुतलियां एकदम काली। वह पंद्रह-सोलह साल की उम्र का एक लड़का था। तांबई काला रंग। चौड़े कंधे। सीने की मांसपेशियों में तनाव...बाहें दमदार, हाथ और हाथों की अंगुलियों में कुछ करने की छटपटाहट, सिर के बाल अजीब गुच्छा-मुच्छा और उसकी एक लट उसकी नाक पर लहरा आयी थी ... उसके पूरे शरीर पर एक सफेद, फटी धोती के अलावा कुछ न था।

करीब एक-डेढ़ मिनट तक मेरा यह मुआयना चलता रहा। इस बीच उसने दो-एक बार आंखें उठाकर मेरी ओर देखा भी, लेकिन जैसे उससे उसे कोई सरोकार न हो, उसने फिर आंखें घुमा लीं। मुझे लगा यह जिद्दी किस्म का लड़का है। इसलिए इससे आंखों से या संकेत से नहीं, जबान से बात करनी पड़ेगी।

"क्यों भैया !" मैंने कहा, "तुम्हारी सीट कहां है ?"

उसने अपनी चमकती हुई आंखों को एक बार मेरी ओर उठाया और फिर

दूसरी ओर घुमाते हुए उत्तर दे दिया, "बैठा तो हूं !"

"मगर यह तो हमारी सीट है, भैया !" मैंने कहा। "हमारा रिजर्वेशन है !"

"सो हम कुछ नहीं जानते. . .सीट उसकी जो उसपर बैठा हो। हम इसपर बैठे हैं. . .!"

अब मुझे थोड़ा सख्त होना पड़ा। मेरे स्वर में भी थोड़ी-सी तेजी आ गयी, "तुम्हारे पास टिकट भी है ?" मैंने उससे पूछा।

"हमारा टिकट इंदिरा मैया के पास है।"

"तो यहां क्या कर रहे हो ? इंदिरा मैया के पास जाओ न !"

"वहीं तो जा रहे हैं. . ."

आसपास के लोग इस बीच इस बातचीत में रस लेने लगे थे। उन्हें शायद बोरियत से निजात पाने का यह एक जरिया मिल गया था। लड़के के इस उत्तर पर कुछ लोग ठहाका लगाकर हंस पड़े।

अब मुझे ताव आने लगा। गुस्से और खीज से भरकर मैंने उसके कंधे पर हाथ रख दिया और उससे कुछ कहने ही वाला था कि उसने मेरा हाथ झटक दिया। साथ ही बोला, "अरे, हम तो यों ही बैठे हैं। अभी उठ जायेंगे. . .!" इसके साथ ही वह ऊपर के होंठ को टेढ़ा करके हल्के से मुस्करा दिया और सीट से उठ खड़ा हुआ। मैंने झट से सीट पर कब्जा कर लिया। सुराही को सीट के नीचे टिका दिया और अटैची को ऊपर की सामान रखने की जालीदार बर्थ पर। लड़का सीट के सामने ही लगे वाश बेसिन से टिककर खड़ा हो गया। उसकी आंखें नीचे ताक रही थीं और ऊपर का होंठ रह-रहकर फड़क रहा था, जैसे वह कुछ कहना चाह रहा हो।

जो लोग निश्चित होकर अपनी-अपनी सीटों पर जम गये थे, वे आपस में बतियाने लगे थे। लेकिन अनेक ऐसे भी थे जो कॉरीडोर में ही अपने साज-सामान पर जमे हुए थे। औरतें बच्चों को चबेना या रोटी का टुकड़ा देने लगी थीं, मर्द बीड़ी-सिगरेट पीने लगे थे या सुरती मलने-फांकने लगे थे। फिर शौचालय की ओर जाने-आने वालों का सिलसिला शुरू हो गया। लड़का चूंकि रास्ते में खड़ा था, इसलिए हर आने-जाने वाले का कोई न कोई अंग उससे टकरा जाता था और लोगों ने बड़बड़ाना शुरू कर दिया था। एक लाला किस्म का आदमी कुछ ज्यादा ही मोटा था। वाश बेसिन पर आकर वह अपने लोटे से हाथ-मुंह धोने लगा। जगह की कमी के कारण लाला को भी परेशानी हो रही थी, इसलिए उसने डांटकर कह दिया, "अरे, तुम एक तरफ बैठ क्यों नहीं जाते ! सबको दिक्कत हो रही है !"

लड़के ने एक बार फिर चमकती हुई आंखों से उसे देखा और बोला, "हमारी मर्जी ! गाड़ी तुम्हारी ही नहीं है ! हमारी भी है !"

"अरे वाह !" लाला बिगड़ गया, "एक तो बिना टिकट सफर करते हो, ऊपर से अकड़ते भी हो !"

"आप अपना काम करो ! हमसे मतलब !"

"ठीक है, अगला स्टेशन आने दो...पुलिस बुलवाकर तुम्हें ठीक करवाना पड़ेगा।"

"पुलिस की ऐसी-तैसी ! पुलिस क्या कर लेगी हमारा !...मालूम है, हम रेभोलूसनरी हैं...आर-इ-भी-ओ-एल-यू-एस-एन . . ."

मैंने उसकी ओर देखा—उसकी आंखों में पहले से भी ज्यादा चमक थी, जब कि गाड़ी के बाहर रोशनी ढल चुकी थी। आसमान में गहरे काले बादल थे, जिससे यह अंदाज भी नहीं मिलता था कि सूरज आसमान में ही कहीं है या ढल चुका। मैं कुछ क्षण खिड़की से बाहर ही देखता रहा और भीतर के दृश्य को करीब-करीब भूल ही गया। लेकिन तभी किसीकी आवाज ने मेरा ध्यान फिर गाड़ी के भीतर खींच लिया। किसी किसाननुमा आदमी का स्वर था, जो लड़के को छेड़ रहा था "भैया, तुम्हें अगर इंदिरा मैया के पास जाना है तो इस गाड़ी से काहे जा रहे हो ? . . . यह तो बंबई जायेगी !"

"अरे हम चाहें तो उन्हें हमसे मिलने हमारे गांव तक में आना पड़ेगा . . . हम क्रांतिकारी हैं. . . रेभोलूसनरी।" और इसके साथ ही उसने जो वाक्य बोला, उसने मुझे चौंका दिया, "यही तो हमारा दुर्भाग्य है," उसने कहा, "इस देश का गरीब भी गरीब का मजाक उड़ाता है।"

बाहर जोरों की बारिश होने लगी थी। मैंने खिड़की बंद कर ली। फिर भी पानी उसके कांच के नीचे से सीट पर गिरने लगा।

एक स्टेशन आ गया था। मन में बड़ी इच्छा थी कि एक कप चाय मिल जाये तो थोड़ी राहत मिले। लेकिन हमारा डिब्बा प्लेटफॉर्म से बहुत दूर रह गया था और चाय वाले प्लेटफॉर्म पर ही आवाजें लगा रहे थे। मन मारकर बैठा रहा। आखिर गाड़ी चल दी।

सिगरेट पास थी, इसलिए कुछ गनीमत थी। मैंने एक सिगरेट सुलगा ली। धुआं लड़के की ओर उड़ा तो उसने मेरी ओर देखा। फिर धीरे से बोला, "एक बीड़ी हमको भी पिलवाइए न !"

मैंने एक बार व्यंग्य-भरी नजर से उसकी ओर देखा और फिर सिगरेट और माचिस उसकी ओर बढ़ा दी। उसने सिगरेट सुलगा ली और मुट्ठी बांधकर जोर-जोर से सुट्टे लगाने लगा।

डिब्बे में अंधेरा घिरने लगा था। दो-तीन बल्ब बड़ी मरियल-सी रोशनी से उसमें जिंदगी का ऐहसास भरने की कोशिश कर रहे थे। गंवई लोगों ने अपने-

अपने खानों की पोटलियां खोल ली थीं और बड़े-बड़े कौर मुंह में भरकर उन्हें सूखा ही निगलने लगे थे। लोगों के चलते मुंह देखकर मुझे भी एहसास हुआ कि मैं भूखा हूं। रात-भर हम लोग चर्चा-गोष्ठी में व्यस्त रहे थे। बहुत तेज-तर्रार बातें हुई थीं। हम देश के मौजूदा हालात पर विचार करते रहे थे। इन हालात में अपने कर्त्तव्यों की बातें करते रहे थे...बहुत देर तक खाना-पीना-बहसें चलती रही थीं। फिर सुबह उठकर गाड़ी की चिंता सवार हो गयी थी। दिन में थोड़ा-सा नाश्ता ही किया था। स्टेशन पर मित्र लोग खाने को कहते रहे थे, पर गर्मी और हड़बड़ाहट के मारे मन ही नहीं हुआ था कि कुछ खाया जाये !...

बहरहाल लोग फिर बातों और खामोशी के सिलसिलों के बीच गुम हो गये थे। अब एक बार फिर मैं उस लड़के से मुखातिब हो गया। सोचा, इससे बातें ही की जायें तो अगले स्टेशन तक का रास्ता कट जायेगा। इसलिए मैंने उससे कहा, "कौन गांव के हो, भैया ?"

"चक चमरिया के...सी-एच-के सी-एच-एम-आर-ई-ए..." और उसने सिगरेट का आखिरी कश लेकर टोटे को वाश बेसिन में ही फेंक दिया।

"वह कहां है ?"

"बिहार में... इन बिहार..."

अब मैंने उससे कहा कि वह मेरे साथ ही मेरी सीट पर बैठ जाये। वह चुपके से बैठ गया।

"कुछ पढ़े भी हो ? अंग्रेजी तो खासी बोलते हो ! नाम क्या है ?"

"कलुआ... कालू सिंह है हमारा नाम," और उसने गरदन मेरी ओर घुमा ली... "के-ए-एल-यू-एस-आइ-एन-जी... आठ किलास तक पढ़े है, गांव के इस्कूल में।"

"आगे क्यों नहीं पढ़े ?"

"कैसे पढ़ते ! हम जात के चमार हैं। हमारा बाप चमारी नहीं करता था। किसानी करता था। पिछले बरस ठाकुरों ने हमारे घरों को आग लगा दी। बाप जल मरा। हम फीस नहीं भर सके तो इस्कूल से निकाल दिये गये।"

"ठाकुरों ने घर क्यों जला दिये ?"

"वो तो रोज का ही काम है उनका... मजूर ज़रा-सी मांग करे तो उसे लाठी-गोली-आग ही तो मिलती है !..."

"तो अब क्या करते हो ?"

"कुछ नहीं...क्रांति करते हैं... रेभोलूसन...।"

मुझे अजीब-सा लगा।

"ऐसे भटक-भटककर कहीं क्रांति होती है क्या ?"

"हम अकेले नहीं हैं,..लाखों हैं... करोड़ों हैं... सब सब जगह क्रांति

करेंगे. . . जब तक यह राछस-राज खत्म नहीं होता, तब तक कुछ नहीं होगा।"

और सहसा जैसे किसीने उसकी चाबी ही भर दी हो. . . अब वह बिल्कुल किसी भाषणकर्त्ता की तरह ऊंचे स्वर में बोलने लगा। लोगों की आंखें उसकी ओर खिंच गयीं—बैठे हुए उसकी ओर देखने लगे, लेटे हुए उठकर बैठ गये। खड़े हुए उसकी ओर घूम गये. . . और कलुआ वाश बेसिन के पास ही खड़े होकर बड़े नपे-तुले, सधे-संवरे, फिर भी गंवई ढंग से देश में फैले भ्रष्टाचार की बातें कह रहा था, पूंजीपतियों की खूंखार प्रवृत्तियों की बातें कह रहा था, वर्ग और वर्ण-संघर्ष की बातें कह रहा था और शोषित वर्ग को एकजुट हो जाने का आह्वान दे रहा था. . . "इस देश को सिर्फ एक ही झटके की जरूरत है। यह खूनी दीवार अब ढहने ही वाली है . . .क्रांति होकर रहेगी. . .मजूर जाग उठा है . . .किसान जाग उठा है . . . हम सबको दिल्ली जाना है. . . व्यवस्था की चूलें हिला देनी हैं . . . क्रांति हो कर रहेगी . . . रेभोलूसन . . . टोटल रेभोलूसन. . .।" सहसा उसका चेहरा तमतमा आया था. . . गले की नसें फूल उठी थीं. . . पेशानियों की नसें तेजी से बहती जल-धाराओं की तरह एक-दूसरे को काटने लगी थीं. . .सीने की मांस-पेशियां फड़कने लगी थीं . . .टोटल रेभोलूसन. . .संपूर्ण क्रांति. . . टी-ओ-टी-एल-आर-इ-भी-ओ-एल-यू-एस-एन. . .

पूरे डिब्बे में बेचैन-सी खामोशी व्याप गयी थी। सभी इस कदर मंत्रमुग्ध-से हो गये थे कि पता नहीं चला कि कब अगला स्टेशन आ गया और गाड़ी रुक भी गयी। रात के खाने की थालियां लिये एक वेटर डिब्बे में चढ़ आया था और सभी का मंत्र-प्रभाव तभी टूटा जब उसने कलुआ को कोहनी से ठेलते हुए कहा, "चल बे, क्रांति की औलाद ! रास्ते में क्या खड़ा है !"

खाने की थालियां आते ही डिब्बे में एक हलचल-सी मच गयी। कलुआ और उसकी बातें उस हलचल में गुम हो गयीं। उसने मेरे हाथ से सिगरेट की डिबिया लेकर एक सिगरेट सुलगायी और जोर-जोर से सुट्टे लगाकर धुआं बिखेरने लगा। लेकिन चेहरा उसका अब भी तमतमा रहा था—आंखों की गहरी काली पुतलियां अब भी सफेदी से घिरी चमक रही थीं।

"भूख ने ही तो इस देश को इतना ओछा बना डाला है और हमारे सत्ता-धारियों ने हमें भूखा बना डाला है. . ." वह बड़बड़ाया।

भूख मुझे भी लगी हुई थी। खाना लाने वाले लड़के से मैंने खाने की एक थाली मांगी तो उसने कह दिया, "खाना केवल ऑर्डर देने वालों को मिलेगा।" ऑर्डर शायद वह तभी ले गया था जब कालूसिंह ने भाषण देना शुरू किया था और मैं उसे सुनने में मशगूल था।

बारिश अब भी बहुत तेज थी। इसलिए नीचे उतरना संभव नहीं था—प्लेटफॉर्म भी तो काफी दूर था !

खाने वाला लड़का खाने की थालियां बांट रहा था। कलुआ ने एक बार उसे रोक लिया और बोला, "भूख हमें भी लगी है ! एक थाली हमें भी दे दो !"

वेटर ने उसे झटक दिया, "अबे ओ भिखारी की औलाद ! चुपचाप बैठा रह ! खबरदार जो किसी थाली को हाथ भी लगाया तो हाथ तोड़ दूंगा !"

वेटर देखने में काफी हट्टा-कट्टा था—बारिश में भीग जाने की वजह से कपड़े उसके शरीर से चिपक-से गये थे और शर्ट की ऊपर चढ़ी आस्तीनों के नीचे उसकी बांहों की मछलियां काफी मजबूत लग रही थीं। कलुआ खामोश होकर बैठ गया।

खाने की ओर से अपना ध्यान हटाने के खयाल से मैंने फिर सिगरेट सुलगा ली। गाड़ी अभी खड़ी थी—स्टेशन कोई जंक्शन था,। बारिश की बौछारें अभी भी बड़ी तेजी से पड़ रही थीं।

थोड़ी देर बाद वेटर खाली थालियां समेटने लगा और दरवाजे के पास ढेर लगाने लगा। मैं देख रहा था, कलुआ की नजरें उन खाली थालियों पर लगी थीं—उनमें से कुछेक में कुछ न कुछ जूठन शेष थी। दो-एक रोटियां थीं—कुछ दाल थी, कुछ रायता था।

इस बार वेटर दूसरी ओर की थालियां लेने गया तो कलुआ उठकर दरवाजे के पास चला गया। वेटर लौटकर आया तो उसे वहां खड़े देख वह गुर्राया, "खबरदार, जो किसी चीज को हाथ लगाया तो !..." और वह थालियों को ढेर करके फिर चला गया।

और अब कलुआ एकदम झुका और उसने नीचे की थाली में बची दो रोटियां और रायता उठा लिया। रायते की कटोरी उसने मुंह से लगा ली—लेकिन उसके कटोरी उठाने से ऊपर की थालियां नीचे फिसल गयी थीं। खनखनाहट की एक आवाज हुई—थालियां पास पड़े कांच के गिलासों से टकरायीं—गिलासों के गिरने से झनझनाहट हुई...और बस, एक कहर ही बरपा हो गया—वेटर चिल्लाता हुआ और मां-बहन की गालियां बकता हुआ, बिजली की-सी फुर्ती से वहां आ पहुंचा और उसने कलुआ को उसके बालों से पकड़कर पीछे धकेल दिया—वह गिलासों के ऊपर गिरा। उसका सिर दीवार से जा टकराया और फिर उस पर घूंसों और जूतों और लातों की बौछार पड़ने लगी—वेटर उसे मारता जाता और गालियां बकता जाता, "साले ! हरामजादे ! चोरी करता है ! सूअर ! गिलास तोड़ता है...हरामजादे !..."

जूतों और लातों और घूसों की धड़ाक्-धड़ाक् की आवाजें...कलुआ के शरीर के बार-बार कभी फर्श तो कभी दीवार तो कभी दरवाजे से टकराने की आवाजें...और बीच-बीच में उसके शब्द—यही तो दुर्भाग्य है...यही तो कमी है...मार ले साले...मार ले...लेकिन...एक दिन तुझे भी हमारे साथ चलना

होगा. . .क्रांति होकर रहेगी. . .सम्पूर्ण क्रांति' · 'टोटल रेभोलूसन. . .

लातों और घूंसों के बीच ही वेटर ने कलुआ को उसकी बांहों से पकड़कर उठा लिया और यह कहते हुए कि 'साले अभी निकालता हूं तेरी क्रांति !' उसने उसे दरवाजे से नीचे रेल के पत्थरों पर धकेल दिया. . .धड़ाक की एक आवाज हुई. . . लगा जैसे कुछ हड्डियां चटखी हों. . .और फिर एक बदहवास-सा सन्नाटा छा गया. . .जैसे पूरे डिब्बे को लकवा मार गया हो. . .

वेटर और उसके एक साथी ने थालियों वगैरा को चलती गाड़ी में से ही उतारा. . .और कुछ ही पल बाद गाड़ी प्लेटफार्म के प्रकाश को पार करती हुई रात के अंधकार में आगे बढ़ने लगी।

पूरे डिब्बे में सन्नाटा था। कोई कुछ नहीं बोल रहा था. . .शायद हर यात्री इसी सोच में डूबा था कि कलुआ का क्या बना होगा। लेकिन यह घटनाक्रम इतनी तेजी से घटित हुआ था कि न तो कोई उसके बारे में कुछ सोच पाया था, न कह पाया था। इसीलिए वह सन्नाटा मौत के बाद के-से सन्नाटे जैसा भयावह लग रहा था। फिर धीरे-धीरे पूरा डिब्बा नींद की आगोश में आ गया था।

मैं बहुत देर तक बाहर फैले अंधकार और उस अंधकार में चमकती बारिश की धाराओं को देखता रहा। फिर जाने कब मेरी भी आंख लग गयी।

फिर जब लगातार बैठे रहने से मेरी हड्डियां दुखने लगीं तो मेरी आंख खुल गयी। मुझे ताज्जुब हुआ कि बाहर रोशनी हो रही थी। कोई स्टेशन आ चुका था। सवेरा हो चुका था। बारिश गायब थी। चाय वाले आवाज दे रहे थे। मैं नीचे उतर आया।

मैंने चाय वाले से चाय मांगी। तभी मेरे पीछे से एक आवाज आयी, "एक चाय हमारे लिए भी, भाई साहब. . .!"

मैंने घूमकर देखा—कलुआ मेरे पीछे खड़ा था और उसकी आंखें मुस्करा रही थीं. . .

आदमी

सुरेंद्र अरोड़ा
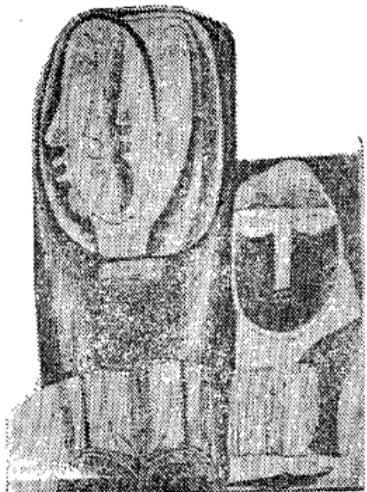
चलता-चलता वह बस-स्टाप के शेड तले आकर एक कोने में बैठ गया। उसने चारों तरफ देखा। कहीं दूर तक कोई आदमी नजर नहीं आता था। उस दिन इतवार था और तिलक ब्रिज के इस बड़े-से चौराहे पर आकर मिलती हुई तीनों सड़कें जेठ की भरी दुपहरी में जैसे लम्बी नदियों का आभास दे रही थीं। उसने निर्णय किया—थोड़ा सुस्ता लिया जाये, तब तलाश में चलना होगा। दोनों टांगें जोड़कर उसने घुटनों में अपना सिर छिपा लिया। पलकें झप्-से बंद कर लीं। इतनी तेज लू थी, पर उसे इससे आराम मिला।

वह यूं ही बैठा रहा। एकाएक झन्नाटे से एक मोटर-गाड़ी लम्बा हार्न बजाती हुई गुजर गयी। उसकी तन्द्रा टूटी। उसने धीरे-धीरे आंखें खोलीं। चारों ओर नजर दौड़ायी। देखा, सामने से एक साइकल-सवार गुजर रहा है और चौराहे की ओर से सड़क पार करता हुआ एक जोड़ा बस-स्टॉप की ओर बढ़ा आ रहा है। वह निर्निमेष उस जोड़े की ओर देखने लगा—जहां वह बैठा है, वहां से लेकर उस जोड़े के बढ़ते कदमों तक एक सीढ़ी है जिसपर वे दोनों खट-खट चढ़ते जा रहे हैं और ये सीढ़ियां उसके दिल तक चली गयी हैं। उसकी धड़कनों में चुभन-भरी लहर दौड़ने लगी थी। जैसे-जैसे जोड़ा पास आता जा रहा था, उसकी

धड़कनों के उठने की गति में तीव्रता आती जा रही थी और उसकी आंखों को केवल उनके पैर ही पैर दिखाई दे रहे थे। वह उठकर खड़ा हुआ। जोड़ा बस-स्टाप के शेड तले आकर ठीक उसके सामने दूसरे कोने में खड़ा हो गया था। जोड़े की नजरों में अपने प्रति भरी हिकारत और क्रोध देखकर वह सिमटकर शेड के पिछले हिस्से की दीवार से चिपककर दीवार का अंग बन गया था। उसका दिल धक्-धक् कर रहा था।

कल इसी तरह वह एक बस-स्टाप पर आकर केवल धूप से बचने के लिए खड़ा हो गया था। दो-चार लोग और खड़े थे। उन्होंने भी इस जोड़े की तरह ही उसके प्रति अपनी आंखों में घृणा भर ली थी। एकाएक फ्रॉक और सलवार-कमीजों वाली पंद्रह-बीस लड़कियों का रेला उस बस-स्टैंड की ओर बढ़ आया था। इस बीच एक लड़की उससे टकरायी थी और उसके मैल-सने नंगे पिंडे और सन की रस्सियों से बंटे लम्बे-लम्बे बालों को देखकर उसकी आंखें फैल गयी थीं और एक चीख मारते हुए वह ऐसे अलग हुई थी जैसे उसपर सांप आ पड़ा हो। वह मारे डर के वहां से भाग उठा था। अचानक एक सीटी बजी थी, "ए-ए, कहां जाते हो ? रुक जाओ. . .।" इशारा उसीकी ओर था। वह भयभीत होकर रुक गया था। एक लाल पगड़ी वाला उसकी ओर बढ़ रहा था। वह हांफ रहा था और डर रहा था—जाने क्या हो ?

"ए बांगड़ू ! बाप की सड़क समझ रखी है क्या ? भागते चले जा रहे हो ! देखते नहीं लाल बत्ती हो गयी है ! अंधे हो क्या ! चलो हटो पीछे !"

वह पीछे हट गया था। उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ा था। पर एक बात पर रह-रहकर उसे आश्चर्य हो रहा था—यह लाल पगड़ी वाला उसका नाम कैसे जान गया ? केवल गांव वाले ही उसे बांगड़ू कहते थे ! यह आदमी क्या ?. . . उस अजनबी शहर में लाल पगड़ी वाले के मुंह से अपना नाम सुनकर उसके पपड़ी जमे होंठों पर पहली बार नमी आयी थी।

आज भी बस-स्टॉप के नीचे वह इस जोड़े से भयभीत सिमटा-सा खड़ा था। उसकी आंखों के कोने इस जोड़े के क्रिया-कलाप को चुपके-चुपके देख रहे थे। स्त्री का हाथ पुरुष के हाथ में था, आंखें उसकी आंखों में थीं। स्त्री कह रही थी, "तीन बसें गुजर गयी हैं, चौथी में जरूर चली जाऊंगी। देखो, पहले ही बहुत देर हो गयी है, प्लीज !"

फिर स्त्री की घूमती हुई आंखें उसकी नजरों से जा टकरायी थीं और वह चिल्लायी थी, "ए, इधर क्या देख रहा है ?" लेकिन इससे पहले कि स्त्री और कुछ कहती, वह भागता हुआ नजर आया था और उस जोड़े की खिलखिलाहट उसका पीछा करती रही थी। भागते-भागते उसने मुड़कर देखा था—पीछे कोई नहीं था। वह रुक गया और सड़क के किनारे पटरी पर बैठ गया। वह बुरी तरह

हांफ रहा था। इतना बड़ा शहर ! विशाल हाथियों और हथिनियों जैसी रेंगती बसें, मोटरें, आदमियों का रेला ! उसकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था। वह आज तीन दिन से भूखे पेट था। उस तेजी और भीड़-भाड़ को देख उसे लगा जैसे लोग चल नहीं रहे, उड़ रहे हैं। अपना दुःख-कष्ट किसीसे कहने का वह साहस नहीं जुटा पाया था। दरअसल, वह उड़ने में अपने को असमर्थ पा रहा था। लेकिन पेट की भूख उसे व्याकुल कर रही थी। पेट का दर्द कुछ ऐसा था कि उसका हाथ एक-दो जगह फैल ही गया था। एक ने कहा भी, "भले-चंगे हो, जाओ, कमाओ-खाओ !" और वह बिना समझे या समझने की चेष्टा किये आगे बढ़ गया था। सड़क के किनारे लगे बंबे पर एक मनुष्य के पानी पीने की सारी क्रिया को उसने देखा था। फिर उसने उस बंबे पर जाकर पानी पिया था। इस तरह जहां-जहां जल सुलभ था, उसने ग्रहण किया था। चलते-चलते उसके पैरों में बिवाइयां भी फट गयी थीं। रात वह एक बस-स्टाप के शेड के नीचे कमीज का सिरहाना बनाकर सोया था। सुबह उठने पर अपनी कमीज न पाकर वह हैरान हुआ था। यह उसे करिश्मे जैसा लगा था, और वह नंगे बदन ही चल पड़ा था। कोई मंजिल, कोई उद्देश्य नहीं था।

वह बढ़ते-बढ़ते यहां तक पहुंच गया था। उसके पेट में कुलबुलाहट होने लगी थी। गले में कांटे चुभ रहे थे। वह पटरी से उठा और सड़क के दोनों ओर नल ढूंढ़ने लगा। कुछ आगे बढ़कर उसे एक नल दीख गया। उसने भरपेट पानी पिया। पानी पीने के बाद उसे बजाने की मुद्रा में उसने पेट पर धीरे-धीरे हाथ फेरा तो वास्तव में वह ढोल की तरह बजने लगा। बल्कि उसे लगा कि उसका पेट बाहर निकल आया है और वह कुछ तनकर खड़ा हो गया। फिर उसने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी, ठीक नाक की सीध में उसे कोठियों की एक लम्बी कतार नज़र आयी। इससे पहले कि वह कुछ सोच पाता, उसके पैर उन कोठियों की ओर बढ़ने लगे। उसने देखा, उन मकानों के आगे हरी-हरी, ऊंची-ऊंची झाड़ीनुमा दीवारें हैं। तरतीबवार और बराबर की ऊंचाई में कटी-छंटी झाड़ियां उसके मन में एक अनाम-सा डर भरने लगीं और चाहते हुए भी उसका साहस कोठियों में से किसीके भीतर प्रवेश करने का नहीं हुआ। वह उन झाड़ियों की अलग-बगल बढ़ता चला जा रहा था। शायद उसने चार या पांच घर पार किये होंगे कि उसके नथुनों में एक जानी-पहचानी सुगंध भर गयी। इतने बड़े अजनबी शहर में केवल यह सुगंध ही उसे जानी-पहचानी-सी लगी। उसके मुंह से लार टपकने लगी और वह ज़ोर-ज़ोर से सांस लेने लगा। वह रुक गया। उस सुगंध ने उसके पैरों में जैसे सांकल-सी बांध दी थी। लार टपकाता हुआ वह मकान की हैज से सटकर बैठ गया। वह कुछ देर इसी तरह बैठा रहा और सुगंध लेता रहा। जब नहीं रहा गया तो दोनों हाथों से हैज के बीच झिरी बनाते हुए उसने झांका।

झांकते ही उसकी निगाहें एक सफेद वर्दी और सफेद पगड़ी वाले आदमी से टकरायीं।

"ए ! कौन है ? वहां क्या कर रहा है ?" उस झक सफेद वर्दी वाले की आवाज की कड़क से उसका अंग-अंग टूट-सा गया। आंखें बंद कर झट से वह गठरी-सा सिमट गया। उसे लगा जैसे यह भी उसे पहचानता हो। वह उठने को हुआ कि एक दूसरी आवाज उसके कानों से टकरायी, "ए ! इधर आओ। वहां क्या कर रहे हो ?"

उसने लकड़ी-से अंगों को समेटा और खड़ा हो गया।

"ए ! साहब बुला रहे हैं," उसने देखा सफेद वर्दी वाले की आवाज़ और आंखों में रोब झलक रहा है।

वह कैसे आगे बढ़े ?. . .जाने क्या हो ?. . .वह बड़े पसो पेश में पड़ गया था कि जोरों की एक और आवाज़ उसके कानों से फिर टकरायी, "क्या चाहते हो ?"

उसने आंखें उठायीं। उसके होंठ फड़फड़ाये।

"भूख लगी है ?"

उत्तर में उसकी गरदन दो बार हिली।

"तो देख क्या रहे हो ? अन्दर आ जाओ। कम-कम।"

उन साहब की रोबीली आवाज़ और बड़ी-बड़ी मूंछों के बीच दबे सिगार से वह घबरा गया। उसे लगा, उसके पैर जैसे ज़मीन से चिपक गये हैं। जाने यह मूंछों वाला साहब उसके साथ कैसा व्यवहार करे ! उसे इस तरह आना ही नहीं चाहिए था. . .।

"ए ! क्या बहरा है ?"

मूंछों और सिगार के बीच से निकली कड़क-भरी आवाज से उसकी सारी काया हिल गयी और वह सहमा-सहमा, नाप-नापकर कदम बढ़ाने लगा। जमीन में गड़ी उसकी नज़रों को बजरी का एक-एक कण, छोटे से छोटा पत्थर दिख रहा था।

"चलो, अन्दर चलो।"

वह उस आदेश-भरी रोबीली आवाज के पीछे-पीछे चल रहा था।

"बैठ जाओ।"

अपने अंगों को समेट, डरते-डरते वह एक कोने में बैठने को ही था कि फिर कानों में डपट-भरी आवाज पड़ी, "नीचे नहीं, यहां बैठो, सोफे पर !"

उसने आधी झुकी देह को सीधा किया और खड़ा हो गया। इस बीच उसने पलकों के कोनों से सारे कमरे को देखा। बड़ी-बड़ी कुर्सियां, सोफे, मेज, परदे !

"मैं कहता हूं, बैठ जाओ।"

"सुनते नहीं, साहब क्या कह रहे हैं ?" नौकर ने दोहराया।

उसकी आंखें दया की भीख मांगती लग रही थीं। वह इस गद्दीदार कुर्सी पर कैसे बैठे ? वह. . .

"बैठो," डपट तेज हो गयी थी।

"हां, बैठो !" नौकर ने फिर दोहराया।

"ए ! तुम यहां क्या कर रहे हो ? चलो खाने का बन्दोबस्त करो," साहब ने नौकर को डांटा।

नौकर इतनी फुर्ती से भीतर गया जैसे वह कोई चाबी वाला खिलौना हो।

वह अभी तक उसी तरह खड़ा था। सिकुड़ा हुआ-सा।

"अरे ! तुम अभी तक खड़ा है ? बैठेगा नहीं ? सिट डाउन ! बैठो !"

वह सहमा-सा, डरा-सा गद्दीदार कुर्सी के नजदीक आया। एक पल खड़ा रहा। फिर इतनी तेजी से उछलकर बैठा कि उसे खुद पता नहीं चला कि वह कब और कैसे उस कुर्सी पर बैठा है। उसकी दोनों टांगें आपसे आप एक-दूसरे पर चढ़ गयी थीं।

उसे इस तरह सोफे पर बैठते देख साहब जोर से खिलखिला पड़े। हंसते गये। उनकी देह दुहरी होती गयी, "ह-ह-ह एकदम कछुआ का माफिक। ह्वाट ए ब्यूटिफुल साइट. . .!" वह हंसते जा रहे थे। सहसा वह रुके। नौकर को सामने की दीवार से पीठ टिकाये खड़ा देख उनकी भवें तनीं और आंखों में क्रोध झलकने लगा।

"करीम !" वह चिल्लाये।

"जी साहब !" और नौकर फौरन गंभीर मुद्रा में हाथ बांधे खड़ा होकर उनके आदेश की प्रतीक्षा करने लगा।

"करीम, इन साहब के लिए खाना नहीं लगाया ?"

नौकर फुर्ती से भीतर की ओर दौड़ा।

साहब ? उसके लिए 'साहब' शब्द ? उसका जी चाहा वह कहे, 'साहब तो आपका नाम है, साहब ! हमारा नाम तो बांगड़ू है !'

खैर, अब उसे यह कुर्सी आरामदेह महसूस हो रही थी। वह कुछ-कुछ सामान्य होने लगा था और उसे फिर भूख की याद आ रही थी।

"ए चलो, खा लो !" उस नौकर की आवाज में डपट थी, बल्कि घृणा का भी आभास था।

उसने हाथ फैला दिया। भीख की मुद्रा में।

उसके फैले हाथ को देख साहब हंसने लगे। हंसी का आवेग जब बढ़ता तो उसकी ओर इशारा करते हुए कहते, "हू-हू . . . भिखमंगा, एकदम भिखमंगा ! हू-हू . . . भिखमंगा . . . !"

साहब की हंसी से वह और भी सिमट गया था।

नौकर भीतर-बाहर भाग रहा था। मेज पर सफेद-सफेद प्लेटें लग रही थीं।

खाना मेज पर लग गया तो साहब ने आदेश दिया, "चलो, खाओ !"

वह पसोपेश में पड़ गया। कुछ समझ में न आया तो उसने फिर हाथ फैला दिया। उसके मुंह से लार बदस्तूर टपक रही थी और उसके नंगे पेट को गीला कर रही थी। साहब ने फिर ठहाका लगाया। "फनी ! . . . करीम ?"

"जी साहब !" नौकर फौरन हाथ बांधे साहब के सामने हाजिर हो गया।

"हमारा कैमरा लाओ।"

"जी साहब !" नौकर कैमरा लिये हाजिर था।

एकाएक कैमरे की फ्लैशलाइट चमकी और उसने आंखें बंद कर लीं।

"यह फोटोग्राफ बहुत नेचुरल आयेगा !"

सामने बड़ी-सी मेज पर खाना लगा था। उसकी आंखों में भूख थी। लार टपकती जा रही थी।

साहब टपकती लार को देखकर फिर हंसने लगे थे। "लाइक ए हंग्री डॉग, कुत्ता . . .।"

उसका जी चाहा झपट पड़े सामने वाली मेज पर पड़े भोजन पर, लेकिन उसके पैर बंध-से गये थे। क्यों ? वह समझ नहीं पा रहा था। साहब बीच-बीच में भिन्न-भिन्न कोणों से उसके चित्र लेते जा रहे थे और फ्लैश से उसकी आंखें बार-बार चौंधिया जाती थीं। साहब के इस अजीबो-गरीब कार्य-व्यापार पर उसे भय के साथ-साथ आश्चर्य भी हो रहा था।

"हियर-हियर !" साहब ने कहा। उन्होंने मेज के नीचे से एक कुर्सी खींची। "यहां बैठकर खाओ . . . लाइक ए मैन।"

और वह फुर्ती से कुर्सी पर जा बैठा। एक टांग दूसरी पर चढ़ा ली और झपट पड़ा भोजन पर। उसे अब साहब के कैमरे का भय नहीं रहा था। वह खाने में मग्न हो गया था। प्लेटें बज रही थीं।

साहब कुर्सी पर बैठे-बैठे उसे देख रहे थे। उसे घूर रहे थे। होंठों में लगे सिगार को घुमाते जा रहे थे। उनकी मूंछें खुशी से फूल रही थीं। वह आदमी उसी तरह प्लेटों पर हाथ साफ कर रहा था। सारी मेज गंदी हो गयी थी, पर वह बेखबर था। खाये जा रहा था। वह पूरी चपाती का एक ग्रास बनाता और एक ही ग्रास के साथ एक प्लेट की सारी सब्जी समाप्त कर देता। फिर दूसरी चपाती के साथ दूसरी प्लेट साफ हो जाती और फिर तीसरी और फिर चौथी . . . नौकर मुस्तैदी के साथ खाद्य पदार्थ ला-लाकर मेज पर रख रहा था। साहब के कैमरे का फ्लैश बीच-बीच में चमक रहा था।

साहब एकाएक रुक गये और उसकी ओर किसी विचारक की मुद्रा में देखने

लगे। कुछ देर देखते रहे। उनकी आंखों में चमक आयी। सोफे से उछलते हुए चिल्ला-से पड़े। "फाउण्ड इट, हियर इज हंगर परसॉनीफाइड, हमारा 'जर्नल' के लिए कितना नेचुरल मैटीरियल है ! वंडरफुल !" वह तालियां बजाने लगे थे।

नौकर इतना ही समझ पाया था कि इस आदमी में साहब को अपने देश के उस अखबार के लिए कुछ मसाला मिल गया है जिसमें उनके खींचे हुए 'फोटू' छपते हैं। नहीं तो उसके इतने फोटू क्यों खींचते ?

"ए-ए !" साहब ने एकाएक उसे पुकार लगायी। पर वह सुन कहां रहा था !

साहब उसे देखते हुए बड़बड़ाने लगे, "वेल, ही इज इन मेडीटेशन !" और होंठों में सिगार घुमाते हुए उनकी आंखें एकटक उसीकी ओर केन्द्रित थीं, कुछ ढूंढ़ने का प्रयत्न-सा करती हुईं।

उन्होंने ने देखा, उस आदमी का मुंह और पेट सब्जी से सना हुआ है। हाथ से कुहनी तक सब्जी की एक लम्बी-सी लकीर बनी हुई थी। इस दृश्य को भी साहब के कैमरे ने कैद किया। क्लिक होते वक्त उसकी आंखें चुंधियायी थीं। पर तुरन्त ही वह सामान्य अवस्था में आ गया था और बिटर-बिटर ताकने लगा था, चुपचाप बैठा हुआ।

"और खाओ !" साहब की आवाज में डपट थी।

जवाब में नकारात्मक भाव लिये उसकी केवल गरदन हिली थी। उसकी दृष्टि में आत्म विश्वास झलकने लगा था। साहब उसकी ओर देखते हुए बड़बड़ाये थे, "सैटिस्फेक्शन परसॉनीफाइड। ह्वाट ए ब्यूटीफुल साइट !"

इस बीच वह खड़ा हो गया था। उसकी आंखों में सहजता का भाव था।

साहब मुस्करा रहे थे और दिलचस्पी से देखते जा रहे थे।

करीम मेज साफ करने में व्यस्त हो गया था। वह चुपचाप खड़ा-खड़ा अब कमरे का जायजा लेने लगा था।

"ए ! क्या देख रहा है ?"

इस अप्रत्याशित डपट को सुन वह सकपका गया, "कु-कु-कुछ नहीं, साहब !"

"और कुछ मांगता, एनीथिंग ?"

"नहीं !" उसके होंठ धीरे से खुले।

साहब अपने होंठों पर तर्जनी रखे कुछ क्षण विचारक की मुद्रा में खड़े उसे देखते रहे। फिर एकाएक, "ए ! तुम्हारा नाम क्या है ? उधर बैठो, बड़ा सोफा पर। हम तुम्हारा एक और तसवीर उतारना मांगता ! सिट देयर, येस, लाइक ए किंग !" कह उन्होंने कैमरा अपनी बायीं आंख से लगा लिया।

वह वहीं खड़ा था। हाथ बांधे हुए।

"अरे ! तुम अभी तक इधर खड़ा है ! सोफा पर बैठने मांगता। इन द

सेंटर ! लास्ट पिक्चर फॉर माई जर्नल । हम तुमको एक कापी फ्री भेजेगा । कम ऑन, उधर बैठो !"

वह वहीं खड़ा था । उसी तरह ।

"तुम नहीं बैठेगा ?" साहब की आवाज में क्रोध था ।

"नाहीं !" उसकी आवाज में निश्चयात्मकता का आभास था ।

"ह्वाट ! बट ह्वाई ? हम तुमको खाना खिलाया । तुम हमारा बात मना करता ? करीम, इसको निकालो, अभी बाहर निकालो । हम इसका सूरत नहीं देखने मांगता ।" उनका सारा बदन किसी छड़ी की तरह कांप रहा था । नौकर यन्त्र-चालित-सा उसकी ओर बढ़ा था ।

वह साहब के घर से बाहर निकलकर सड़क पर आ गया था और बड़े मजे-मजे चल रहा था । उसकी चाल में संतुलन था । उसे कोई जल्दी नहीं थी । उसने एक लम्बी सांस खींची, आकाश की ओर ताका और आकाश की सारी सफेदी आंखों में भरते हुए आगे बढ़ने लगा ।

सारी सड़क सुनसान थी । बस-स्टाप पर उस समय भी एक जोड़ा खड़ा था । जोड़े को देखकर वह ठिठका नहीं, बल्कि सहज भाव से उसके ठीक पास जाकर खड़ा हो गया । जोड़े ने उसे पास खड़ा देख नाक-भौं सिकोड़ ली थी, उससे अलग हटकर वे दूसरे कोने में जा खड़े हुए थे और क्रोध-भरी दृष्टि से उसे घूरने लगे थे ।

घन
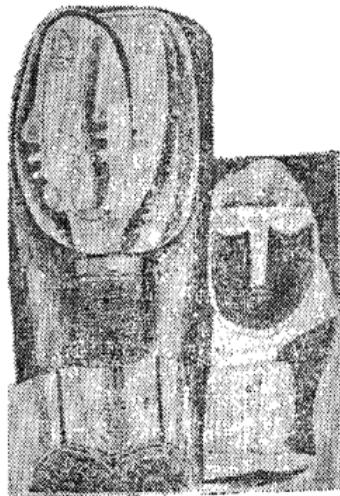
सुरेश उनियाल

दीनानाथ बाबू ने बरामदे के खंभे के साथ साइकल खड़ी की और पास बिछी चारपाई पर धम्म से गिर गये। कमर पर खुजली अब भी हो रही थी। उन्होंने कमीज के अन्दर हाथ डालकर कमर तक पहुंचाया। एक कंकरी-सी हाथ के नीचे आयी। झपटकर उसे अंगूठे और बड़ी उंगली के बीच पकड़ा और बाहर फेंक दिया। स्साला !

पत्नी रसोई में बैठी खांस रही थी। उन्होंने वहीं से आवाज दी, "अरे, सुनना जरा !"

"आती हूं," खांसी के बीच में पत्नी की आवाज़ थी ! छौंक की तीखी गंध उनकी नाक से टकरायी और वह भी खांसने लगे। बलगम थूकने के लिए कोने में रखा डिब्बा उठाया तो उसके नीचे दो वैसे ही कंकरीनुमा जन्तु बैठे थे। डिब्बा उठाते ही वे सरकने लगे। उन्होंने आसपास नजर डाली। झाड़ू या उस तरह की कोई चीज नहीं दिखी। उनके देखते-देखते वे जन्तु दीवार और फर्श के बीच कहीं गुम हो गये। उन्हें बड़ा गुस्सा आया। वह वहीं से चिल्लाये, "अरी, सुनती भी हो या नहीं !"

पत्नी की अवज्ञा उन्हें पसंद नहीं आयी थी।

"आ रही हूं। हल्ला क्यों मचा रहे हो !" एक बार फिर से वैसे ही छौं. . .की आवाज़ के साथ वैसी ही तीखी गंध

उनके नथुनों में घुस गयी। पत्नी बाहर आ गयी थी।

उन्हें अभी तक उसी तरह गुस्सा आया हुआ था। पत्नी के आते ही फट पड़े, "पता नहीं मेरे जाने के बाद तुम क्या करती रहती हो। सफाई का तो बिलकुल खयाल ही नहीं रहता। अब देखो, सारे घर में घुन उसी तरह फैले हुए हैं। कई बार कह चुका हूं एक की बजाय दो बार झाड़ू मारा करो, तभी दूर होंगे। पर कोई सुने तब न ! घर को अजायबघर बना दिया है।"

और फिर पत्नी को बोलने का मौका दिये बिना ही एक दूसरा प्रश्न उसपर दाग दिया, "हां, और रमण कहां है ? आया नहीं अभी ? वह भी लाट साहब है, लाट साहब !"

पत्नी समझ नहीं पा रही थी कि किस सवाल का जवाब पहले दे। जवाब दे भी या केवल चुप रहे। तभी उसे खयाल आया कि दीनानाथ बाबू आज सुबह रोटी तो ले ही नहीं गये थे। उसने पूछा, "दिन में रोटी तो आपने कैंटीन में खा ली थी न ?"

इस सवाल से घुन के रेंगने की सरसराहट उनके पेट से होती हुई चेहरे और आंखों पर फैल गयी। रूमाल निकालकर चेहरे पर फेरा। पत्नी को क्या जवाब दें ? कैसे बतायें कि कैंटीन वाले ने उन्हें उधार देना बन्द कर दिया है क्योंकि पिछले दो महीनों से वह उसे एक भी पैसा नहीं दे पा रहे हैं। यह भी कैसे बताते कि जिन लोगों से वह एक-दो रुपया उधार ले सकते थे उनसे वह पहले ही इतना उधार ले चुके हैं कि आगे मांगते भी शर्म आती है। और यह भी कैसे बताते कि मैनेजर से पांच रुपये एडवांस मांगने पर उसने उन्हें बुरी तरह डांट दिया था क्योंकि अभी पांच दिन पहले ही वह आधी तनख्वाह एडवांस ले चुके थे। ये सब बातें पत्नी को नहीं बताई जा सकतीं। बताने से कोई लाभ भी नहीं। उसकी समझ में कुछ नहीं आयेगा। बस, रोने लगेगी। इसलिए धीरे से कह दिया, "हां खा ली थी !"

उन्हें लगा, पत्नी उनके उत्तर से संतुष्ट नहीं हुई। बात बढ़ाते हुए कहने लगे, "जानती हो, उसने आज मटर-पनीर की सब्जी बनायी थी। और छौंक हल्दी-जीरे का लगाया था। पर वैसा लाजवाब नहीं बना जैसा तुम बनाया करती थीं। देखो, इस पहली तारीख को हम मटर-पनीर बनायेंगे। बनाओगी न !" कहते ही वह गड़बड़ा गये। उन्हें कई पहली तारीखों के कई वायदे याद आ गये। लगा कि उन्होंने एक भी शब्द अधिक कहा तो झूठ पकड़ा जायेगा। इसलिए बात बदल दी, "सुनो, एक कप चाय बना दो। काफी थक गया हूं।"

दीनानाथ हाथ का तकिया बनाकर चारपाई पर लेट गये। हिसाब लगाने लगे। पहली तारीख को पेंशन के सैंतालीस रुपये पचपन पैसे मिलेंगे। इस बार कैंटीन वाले को दस रुपये कम से कम अवश्य देंगे। बीस रुपये परचून वाले को भी

देने पड़ेंगे, वरना अगले महीने सौदा कहां से आयेगा। और दूध ! खैर, उसके दस तारीख को ही दे देंगे। पर वह शर्मा साला पहली तारीख को पठान की तरह ट्रेजरी के दरवाजे पर बैठा होगा। और यह जूता भी तो जवाब दे गया है। पहली तारीख के अभी पांच दिन हैं। पांच दिन तो किसी तरह निकालने ही होंगे। उसके बाद कुछ न कुछ करना ही पड़ेगा। देखा जायेगा, इस बार पांच रुपये की चप्पल ही सही। एक-दो महीने तक तो काम निकल ही जायेगा। और रमण की कमीज ! उसे तो चाहिए ही। फटी हुई कमीज पहनकर किसी साक्षात्कार में जायेगा तो वैसे ही जवाब मिल जायेगा। और इसके अलावा. . .और. . .क्या करें।. . . जेवर के नाम पर बची हाथ की दो चूड़ियां बेचने को पत्नी तैयार नहीं थी। पर कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा। उधार !. . .कौन देगा उधार ?. . .रमण की नौकरी लग जाती तो बस !. . .लेकिन कब ?. . .कैसे ?. . .उसे एम० ए० किये दो साल हो गये हैं। हर जगह कोशिश कर रहा है। दिन-भर दौड़-धूप करता है, सिफारिशें लड़वाता है, पर कुछ नहीं। लेकिन कोई करेगा भी क्यों ? उनके पास किसीको देने के लिए है क्या ?

पर रमण की नौकरी मिलने की इन्तजार में भी कब तक हर स्थिति को अगली पहली तारीख, दस तारीख और फिर बीस तारीख तक के लिए टाला जा सकता है ? उन्होंने हिसाब लगाया—कुल मिलाकर महीने में एक सौ बावन रुपये मिलते हैं। सैंतालीस रुपये पैंशन के और एक सौ पांच रुपये फैक्ट्री से तनखवाह। जिनमें से वह बीस तारीख को ही पचास रुपये एडवांस ले लेते हैं। इसलिए दस तारीख को केवल पचपन रुपये-भर उनके हाथ में आते हैं। इसी तरह अपने खर्चों को भी दो-तीन किस्तों में बांटने की कोशिश करते हैं, पर हमेशा ही कुछ ऐसे खर्चे निकल आते हैं जिनसे सारा बजट गड़बड़ा जाता है।

दीनानाथ गहरी सांस लेते हैं। उनका रिटायरमेंट समय से दो साल पहले हो गया था। स्वास्थ्य के आधार पर। उन्होंने कितनी कोशिश की, पर कुछ न हुआ। इन्हीं दो सालों ने उनके किये-धरे को खत्म कर दिया। रमण एम० ए० के अंतिम वर्ष में था। यदि उस समय तक वह एम० ए० कर चुका होता, या उसके एम० ए० कर लेने के बाद वह रिटायर हुए होते तो उसकी नौकरी तो जरूर लगवा चुके होते। ज्यादा नहीं तो तीन-चार सौ तक की ही। पर उन दो सालों ने सब कुछ गड़बड़ करके रख दिया।

उनके हाथ पर फिर उसी तरह की सरसराहट हुई। देखा एक घुन चढ़ आया है। वह जल्दी से उठ बैठे और उसे दूसरे हाथ से झटककर नीचे गिरा दिया। फिर उन्हें लगा कि उसे जमीन पर गिरा देना ही काफी नहीं है—यह फिर उठकर चारपाई पर आ सकता है या उनके कपड़ों पर चढ़कर उन्हें परेशान भी कर सकता है। उसे मार देना चाहिए। लेकिन वह फर्श पर कहीं गायब हो गया था।

वह झुककर उसे ढूंढ़ने लगे।

तभी पत्नी चाय लेकर आ गयी, "क्या देख रहे हो ? कुछ गिर गया है क्या ?"

"कुछ नहीं. . .एक घुन था।" उन्होंने खड़े होकर चाय का कप थाम लिया।

"अब यहां घुन कहां हैं ? वे तो कभी के खत्म हो चुके हैं।"

"नहीं, अभी खत्म नहीं हुए। मैंने अभी एक देखा। मेरे हाथ पर चढ़ा था।"

"आपको पता नहीं, क्यों इन घुनों को लेकर बेकार का वहम हो रहा है ! मैं रोज दो-तीन बार अच्छी तरह झाड़ू देती हूं। फ्लिट भी छिड़कती हूं।"

"लेकिन घुन अभी हैं। जरूर हैं। तुम्हें इनकी आदत नहीं पता। ये कहीं जाते नहीं। दीवारों के भीतर, चारपाइयों के जोड़ों में, अलमारियों के कोनों में, कहीं भी छिप जाते हैं। ये अपने लिए कहीं भी जगह बना लेते हैं और फिर उस जगह को खोखला बना देते हैं। आखिर तुम्हें सूझी क्या थी कि गेहूं सुखाने के लिए आंगन में फैला दिये ?" दीनानाथ बाबू तैश में आ गये थे।

"आखिर आप कब तक गेहूं फैलाने की बात को लेकर कोसते रहेंगे !" हफ्ते से ज्यादा हो गया है। अब तो वह आटा भी खत्म हो गया है। मुश्किल से दो दिन और चलेगा।"

अरे हां, गेहूं का खर्चा तो उन्होंने जोड़ा ही नहीं था। पिछली बार गेहूं की फसल पर अपनी पेंशन का कुछ पैसा कम्यूट कराकर किसी तरह चोरी-छिपे दो बोरी गेहूं घर में रखवायी थी, जो अब तक चल गयी। यह गेहूं की आखिरी किस्त थी जो हफ्ते-भर पहले आंगन में सुखाने डाली थी। नीचे का गेहूं, और वैसे ही बरसात का मौसम। पता नहीं कहां से उनमें घुन लग गये। सुखाने डाले तो सारे मकान में घुन ही घुन थे। दीवारों पर, बिस्तरों पर, कपड़ों में। कुछ दिन तो रात-भर सो नहीं सके। हर एक-दो मिनट बाद करवट के नीचे, हाथ-पांव पर, मुंह पर या कहीं भी सरसराहट। फैक्टरी जाते तो वहां अलग मुसीबत। बैठकर अकाउंट बुक खोली नहीं कि गर्दन पर सरसराहट, उसे फेंका तो घुटने के पास और फिर दिन-भर कभी कहीं-कभी कहीं खुजाते ही रहना पड़ता। लोग हंसते तो उनकी कोफ्त और बढ़ जाती। एक दिन उन्होंने उस टाइपिस्ट छोकरी को कहते सुना, "लोगों के कपड़ों में जुएं पड़ते तो देखी हैं, पर घुन तो केवल इस बुढ़ऊ के कपड़ों को ही लगते देख रही हूं !" उस समय उनकी इच्छा हुई थी कि जाकर उसे डांट दें, पर किसी तरह गुस्सा दबाकर रह गये।

लेकिन जिस दिन जनरल मैनेजर ने ही बुलाकर उन्हें डांटा था—"मिस्टर दीनानाथ, आपकी अकाउंट बुक्स में बेहद गलतियां होती हैं। लगता है घुन आपके कपड़ों को ही नहीं, दिमाग को भी लग गया है। जरा होश से काम कीजिए, वरना हमें कोई दूसरा बंदोबस्त करना पड़ेगा !" उस दिन दीनानाथ को लगा था कि

सचमुच उनके दिमाग को घुन लग गया है। उनके सोचने-समझने की शक्ति कुंठित होती जा रही है।

"रमण अभी नहीं आया ?" उन्होंने पत्नी से पूछा। शायद दसवीं बार।

"आ गया है और सो भी गया है।" पत्नी ने खीझकर कहा। उन्हें याद नहीं आ रहा था कि रमण कब आया। अपनी फैक्ट्री से घर लौटकर खाना खाने और बिस्तर तक आने की एक-एक घटना को अच्छी तरह टटोलकर उन्होंने याद किया, पर याद नहीं आ सका कि इस बीच रमण आया कब. . .उसने खाना कब खाया।

"मुझे याद नहीं आ रहा। क्या उस समय मुझे नींद आयी हुई थी ?" यद्यपि वह जानते थे कि अभी तक उन्हें नींद की झपकी भी नहीं आयी थी।

"आपको पता नहीं क्या हो गया है! आकर उसने आपसे बात भी की थी। आपको बताया नहीं था कि खन्ना ने उसे आज अपने दफ्तर में आने को कहा था कि कोई जगह खाली है और उसके हाथ में है ? लेकिन आज वह उस बात को ही टाल गया और यह मानने से भी इनकार कर गया कि वहां कोई जगह खाली थी भी !"

"अच्छा, यह सब बताया था रमण ने ? मुझे याद नहीं।" उन्होंने आश्चर्य प्रकट करना चाहा, पर पत्नी नाराज न हो बैठे, इसलिए शब्द जबान के अन्दर ही रखे। पत्नी मुंह के अंदर बुदबुदाती हुई अपने बिस्तर पर चली गयी। उन्होंने आंखें बन्द कर लीं। वह सोचना भी बंद कर देना चाहते थे।

उन्होंने उठकर रोशनी बुझा दी और बिस्तर पर चुपचाप लेट गये। कुछ देर बाद उनकी कमर के नीचे फिर सुरसुराहट होने लगी। अब उन्होंने उसे हटाने की कोशिश नहीं की। वह आज जानना चाहते थे कि वह क्या करता है। उसकी कठोर टांगें उन्हें अपने शरीर पर चुभती लगीं। उन्हें लगा जैसे वह उनकी कमर में छेद करने की कोशिश करने लगा है। वह शायद उन्हें कोई बड़ा गेहूं समझकर उनके अंदर घुस जाना चाहता था। वह अवश्य काफी दिनों से भूखा होगा। उनकी इच्छा हुई कि हाथ डालकर उसको निकाल फेंकें, पर हाथ जैसे उनकी आज्ञा मानने से इनकार कर रहे थे।

घुन लगातार उनकी कमर पर छेद करता जा रहा था। वह असहाय-से लेटे थे। किसी तरह जोर लगाकर हाथ कमर तक पहुंचाया, पर बेकार। वहां कुछ नहीं था। घुन अवश्य कमर में छेद करके भीतर घुस गया होगा। वह शरीर के भीतर उसे स्पष्ट अनुभव करने लगे। वह खाने लगा था। उसका सूंड से टटोलना और मुंह मार-मारकर खाना—उसकी एक-एक हरकत वह साफ पहचान रहे थे।

अपने को ऐसी असहाय स्थिति में उन्होंने आज तक कभी महसूस नहीं किया

था। चाहते हुए भी वह कुछ नहीं कर पा रहे थे। सिवा उन घड़ियों की इंतजार के जब वह घुन उन्हें पूरी तरह खा जायेगा और वह छटपटाते हुए दम तोड़ देंगे।

लेकिन नहीं। वह अभी उस घड़ी को आने नहीं देंगे। उन्हें उस घड़ी को टालना है, लगातार टालते जाना है, जब तक वह उसे टाल सकें। वरना... वरना...हे भगवान !

कंधे पर किसीने हाथ रखा—"हे भगवान !" उनके मुंह से फिर निकला।

"क्या हुआ ?" पत्नी का स्वर था। वह उनपर झुककर खड़ी उन्हें हिला रही थी।

"कुछ नहीं।" उनका हाथ झटके से कमर पर चला गया। वहां कुछ नहीं था, किसी किस्म का छेद या और कुछ।

"क्या कोई सपना देख रहे थे ?"

"हां, तुम सो जाओ। अच्छा, पहले एक गिलास पानी दे दो।"

पत्नी ने उन्हें पानी ला दिया। पानी पीकर वह लेट गये। पत्नी भी रोशनी बुझाकर बिस्तर पर चली गयी।

"अच्छा, सुनो। अगर मुझे कुछ हो गया तो ?" उन्होंने पत्नी से कुछ पूछना चाहा। किन्तु पूछा नहीं। केवल करवट बदलकर लेट गये !

शायद

से० रा० यात्री

वह भीड़-भरे बाजार के एक मोड़ पर जरा हटकर खड़ा हो गया और थैले को अपने पैरों के नजदीक टिकाकर मन ही मन जोड़ लगाने लगा। हालांकि हिसाब-किताब के मामले में वह सिरे से निकम्मा था, पर फिर भी यह जोड़-घटाना उसकी जान नहीं छोड़ता था। जब कई बार दोहराने पर भी मीजान सही होता नज़र नहीं आया तो उसने अपने कुर्ते की दोनों जेबें उलटकर सारी खरीज और मामूली औकात के नोट बाहर निकाल लिये। गिनती करते हुए वह अपने चारों ओर की परिस्थितियों और वातावरण से बेखबर हो गया, लेकिन किसी भीतरी सतर्कता से उसकी एक आंख बराबर उधर लगी रही जहां वह मीठी गोलियां बेचने वाला खड़ा था।

...सारा झगड़ा दरअसल इस गोलियां बेचने वाले को लेकर ही शुरू हुआ था। वह जब भी बाजार से घर की तरफ रुख करता था, बचे हुए दो-चार आने की मीठी गोलियां और सस्ती टाफियां बच्चों के लिए खरीद लेता था—खाली हाथ घर में घुसने पर वह बच्चों की नजर में कठघरे में खड़ा अपराधी सरीखा हो जाता था।

कई दिनों से वह तंगदस्ती की हालत में वक्त काट रहा था। पिछले दिनों किफायत के खयाल से सिगरेटों की बजाय

बीड़ी धौंकने लगा था। अपनी समझ से अपने बीवी-बच्चों को वह एक सामान्य जिंदगी मुहैया कर रहा था। जिस अनुपात में वह उन्हें ढंग में लाने की कोशिश करता था, उसी अनुपात में वह स्वयं नंगा होता जा रहा था। बीस-इक्कीस की चप्पलों की गिरानी दस-बारह तक उतर गयी थी। साधु-संन्यासियों की तर्ज पर लंबा ढीला-ढाला कुर्त्ता पहनने लगा था। उसके इन हालात से बच्चे और खास तौर से उसकी पत्नी जमकर असंतुष्ट नजर आते थे। वह अब अक्सर खफा ही रहती थी—किसी बात का उत्तर न देकर उसे अपमानित करती थी। दायें-बायें हर घर में फ्रिज और टेलीविजनों की धूम थी—दस-बारह वर्षों में लोग उसे इतना जरूर पहचानने लगे थे कि उसके बच्चों को रविवार की फिल्म देख लेने देते थे।

वह उपदेशक की शैली को भरसक बचाते हुए बच्चों को समझाता था, "जमीन और आसमान लाखों-करोड़ों सालों से वैसे ही हैं—सूरज, चांद-सितारों का क्रम यथावत् है—इनमें किसी घटना से परिवर्तन नहीं होता—मेरे-तुम्हारे जैसे करोड़ों-अरबों लोग आते-जाते रहेंगे। जिन उपलब्धियों के लिए तुम लोग अपनी नींद और चैन हराम करते हो, वह बहुत तुच्छ और मामूली हैं। आखिर जिंदगी क्या है ? जितने दिन जीना है आराम से जियो और बजाय यह जानने के कि दूसरों के पास क्या कुछ है—यह जानने की कोशिश करो कि जो नियामत भगवान ने तुम्हें बख्शी है, वह कितनी मूल्यवान है। हमें दूसरों की अक्सर उपलब्धियां ही दिखाई पड़ती हैं—उनके गम हमें नज़र नहीं आते।"

शुरू में इस प्रवचन से बच्चों का मनोरंजन होता था—उनकी कुछ समझ में तो आता नहीं था—वे गहरे 'सस्पेंस' में रहते थे कि देखें यह पहेली अंत में कहां जाकर सुलझती है, लेकिन बहुत दफा सुनने के बाद उसकी बातों का असर उल्टा होने लगा था—बच्चे उसे अहमक और काहिल समझने लगे थे।

मकानों की पूरी सफ में उससे ज्यादा पढ़ा-लिखा कोई आदमी नहीं था—बतरा की कबाड़ी की दुकान थी तो संधू फैक्टरी में टाइमकीपर था। एक पड़ोसी सुतली और निवाड़ बेचता था—खन्ना दसवीं तो दूर, चौथी जमात भी पास नहीं था। उसकी चश्मों की दुकान थी जिसे उसने 'खन्ना ऑप्टीकल हाउस' के बोर्ड से सजा रखा था। लेकिन भगवान ही जानता होगा कि वह चश्मे के नम्बरों की तसदीक कैसे करता था। पर उसके दरवाजे पर स्टैंडर्ड गाड़ी खड़ी रहती थी। गो इन फ्लैटों के लिए गैराज नहीं बने थे—इन्हें क्वार्टर ही कहा जाता था, पर इतने पर भी लोग कारों और स्कूटरों के मालिक थे और उनकी नुमाइश दरवाजे पर ही लगाने को मजबूर थे। जहां तक उसका अपना सवाल था, उसके पास स्कूटर तो दूर, एक खटारा साइकल तक नहीं थी। घर में तीन लोग साइकल चलाना जानते थे—वह, उसका लड़का और बेटी—लेकिन उन दोनों को भी

अपने स्कूल पैदल ही मरना पड़ता था।

कुल मिलाकर यह बाहर से एक बहुत नामाकूल स्थिति थी, लेकिन वह अपने मन में पूर्ण संतुष्ट था। उसका ख्याल था कि बच्चों को दाल-रोटी और मामूली कपड़ों के अलावा चाहिए भी और क्या ? सिर के ऊपर छत और पढ़ाई के लिए स्कूल जैसी नियामतें जब तक हासिल हैं तब तक विपन्नता किस चिड़िया का नाम है ? जब वह घर में अजहद तनाव देखता था तो पहेलीनुमा एक सवाल उछाल देता था, "तुममें से कौन ऐसा है जिसे खुलकर भूख नहीं लगती और गहरी नींद नहीं आती ?"

अपनी मूक अथवा मुखर शिकायतों की प्रतिक्रिया इस प्रश्न के रूप में सुन-कर बच्चे यकायक नहीं समझ पाते थे कि उनका पिता उनकी 'भूख' और 'नींद' को लेकर क्यों इतना चिंतित है। उनका प्रश्नाकुल चेहरा देखकर वह बाजीगर की तरह फिर से अपना सवाल दोहराता था और उत्तर में वे किसी प्रकार बतला देते थे कि उन्हें भूख भी लगती है और नींद भी ठीक-ठाक आ जाती है।

बच्चों की इस स्वीकृति से उसका चेहरा खिल उठता था और वह चिहुंक कर कहता था, "तो बस्स, तुम्हें फिर और क्या चाहिए ? तुम सब तंदुरुस्त हो और यह सेहत ही सबसे बड़ी नियामत है—यह कितनी बड़ी बात है कि तुम सब प्राकृतिक जीवन जी रहे हो। कोई हर्ज नहीं अगर हमारे पास चमक-दमक वाली आधुनिक चीजें नहीं हैं। कम से कम हम लोग अपाहिज और बीमार तो नहीं हैं। एक दिन मैं तुम लोगों को बड़े अस्पताल ले चलूंगा—वहां चलकर देखना जरा—क्या दुनिया है वह। उसे देखकर तुम लोग थर्रा उठोगे—किसीकी हड्डी टूटी हुई है, किसीका सिर फूटा हुआ है, किसीको तपेदिक है तो कोई कैंसर से मर रहा है। उन अभागे लोगों को देखकर तुम समझोगे कि हम लोग कितने भाग्यशाली और अमीर हैं।"

उसकी बातों का प्रभाव उसकी पत्नी या बच्चों पर न पड़ता हो—ऐसी बात नहीं थी। आखिर रोज-रोज के प्रवचन से कुछ न कुछ संक्रामक उनके भीतर पहुं-चता ही रहता था, लेकिन चारों ओर घिरते आकर्षणों के बीच फंसकर वे उसकी मूल्यवान हिदायतें भूल जाते थे।

कुछ बरस पहले बच्चे आसान चीजों से बहल जाते थे—अपने पिता को अपना मित्र खयाल करते थे। कोई उसके कंधे पर सवार हो जाता और कोई उसकी पीठ पर चढ़कर उसे घोड़ा बनने को विवश करता। इन हरकतों में हाथ-पांव की जुंबिश दरकार थी—रुपये-पैसे का कोई खर्च नहीं था—इसलिए जिंदगी बहुत स्थूल और आसान थी। लेकिन अब वह बात खत्म हो चुकी थी—बच्चों में अमूर्त्त चीजों से आनंद निकालने की उत्सुकता दम तोड़ चुकी थी। वह सिर-फिरे होकर स्थूल तथा भव्य चीजों का इंतजार करने लगे थे और उनका धैर्य

खत्म होता जा रहा था। उन्हें यह तक जानने की इच्छा नहीं होती थी कि जो कुछ वे चाहते हैं, वह किस अदायगी पर मिलता है—उपलब्धियों के पीछे का नरक उनकी समझ के बाहर था। उन्हें जो कुछ प्रत्यक्ष और करीब लगता था, उसकी चमक उन्हें चकाचौंध कर जाती थी, लेकिन वह बेरहम चीज उनकी पकड़ाई में नहीं आती थी।

जिस लड़की से उसने विवाह किया था, उसकी पहचान अब धीरे-धीरे विलीन होती जा रही थी। गोश्त-पोश्त से अब भी वह उसके घर में मौजूद थी, पर उसकी आंखों में प्रतिदिन एक बेगानापन घर करता चला जा रहा था। साथ ही उसमें एक विरोधाभास भी अज्ञात रूप से उभर रहा था—वह भी अपने पति की कही हुई बातें जब-तब दूसरों के सामने दुहराने लगती थी। अनजाने में वह अपने पति के दर्शन का प्रतिपादन कर जाती थी। मुहल्ले-पड़ोस की कई औरतें तब से उसके घर में आती-जाती थीं जब से उनके अपने घरों में कोई खास कही जाने वाली चीज़ नहीं थी। वे अब भी बेझिझक आती थीं। उसकी पत्नी उन्हें टूटी-फूटी कुर्सियों पर बिठाती थी—कोका कोला के स्थान पर घड़े का पानी या चाय पिला देती थी। वे भी शौक से इन चीज़ों की खातिर स्वीकार कर लेती थीं। बाहर निकलकर चाहे कुछ कहती हों, लेकिन उसके घर में एक बार भी नाक-भौं नहीं सिकोड़ती थीं। घंटा, दो घंटे बैठने के बाद कोई किताब या पत्रिका मांग ले जाती थीं। पत्रिका या पुस्तकें देते समय उसकी पत्नी का चेहरा मानो गरिमा से दीप्तिमान हो उठता था। वह कहना नहीं भूलती थी, "ये किसी दूसरी चीज में पैसा फेंकना पसंद नहीं करते। जब देखो सौ-दो सौ की किताबें उठाये चले आते हैं। कहते हैं, आसपास रहने वालों को किताबें पढ़ने को दो—आदमी को सबसे पहले दिमागी ऊंचाई चाहिए।" औरतें उसकी पत्नी की बातों को कभी नहीं काटती थीं—आखिर उन्हें भी अपनी खाली दोपहरियां काटने के लिए शगल के तौर पर किताबें और मैगजीन तो चाहिए ही होती थीं।

वह फिल्म भी नहीं देखता था। जब लोग उससे फिल्म न देखने का कारण पूछते तो वह परेशानी दर्शाते हुए जवाब देता, "क्या फिल्म देखें! सड़क पर चलते हुए जिधर भी दीवारों पर नजर जाती है, बस, वही एक चीज लौट-फिरकर दिखायी पड़ती है—किसी फिल्मी पोस्टर पर लड़की हाथ में चाकू लिये खड़ी है तो किसीमें लड़के के हाथ में पिस्तौल या बंदूक है। गरज यह है कि पोस्टर में जितने भी मर्द-औरतों की तस्वीरें बनी हैं, सबके हाथ में 'वैपंस' मौजूद हैं। लगता है हर तरफ लोग एक-दूसरे के खून के प्यासे हैं। ये फिल्में हैं या कसाईखाना!"

सुनने वाले उसके तर्क पर हंस पड़ते—कोई-कोई कह देता, "ह्वाट नानसेंस!"

पिछले कई दिनों से बिखराव की स्थिति इस कदर गहरा गयी थी कि घर

में सब्जी तक की जुगाड़ नहीं थी। बड़ी बेटी से घर में सब्जी न होने की सूचना उसे मिली तो वह अपनी खाली जेबें टटोलते हुए बोला, "कोई बात नहीं, बेटा—सब्जी न सही, दालें तो घर में कई तरह की हैं—आज दाल ही बना लो, उसमें लहसुन का बघार लगा लेना।"

"कल रात भी तो दाल ही बनी थी, पापा।" लड़के ने उसे याद दिलाया।

पत्नी ने अपना चेहरा दूसरी ओर फेर लिया। पत्नी की यह विरक्ति उसे चुभने लगी। वह उठते हुए बोला, "ठीक है, आज तो दाल ही बना लो—कल सब्जियां खरीद लायेंगे।"

लेकिन दो मिनट बाद लौटकर लड़की ने सूचना दी कि एक भी दाल इस मात्रा में नहीं है कि सबका काम चल जाये। एक क्षण के लिए वह निरुत्तर रह गया, लेकिन अगले क्षण अपने चेहरे पर जबरन मुस्कान लाते हुए बोला, "तो ऐसा करो कि कई दालें एकसाथ मिलाकर बना लो। एक नया स्वाद पैदा हो जायेगा।"

अपनी बात खत्म करके वह किसीके चेहरे पर नजर डाले बगैर सहसा उठकर खड़ा हो गया। वह अपने अनुभव से जानता था कि घर में जब असंतोष का ज्वार बढ़ता है तो घर के प्रत्येक प्राणी को अपना आपा भारी पड़ने लगता है—तब वह जीने के कारण नहीं ढूंढ़ते—मरने के बहाने तलाश करने लगते हैं। वह मन ही मन भुनभुनाया, 'लाशों को कोई कब तक ढो सकता है।' तभी उसे एहसास हुआ कि वह बगैर जरूरत हिंसक हो रहा है—इस किस्म का रुख अख्तियार करने से वह भी औरों की तरह भौतिकता का शिकार हो जायेगा। अपने-आपको बदलने की कोशिश करते हुए वह दूसरे कमरे में चला गया।

इस कमरे में चारों तरफ-अखबारों और पत्रिकाओं का ढेर लगा हुआ था। इस अखबारी ढूह के बीच खड़े होकर सहसा उसके ज्ञान-चक्षु खुल गये। 'तो यही सब हमारी दुर्गति का कारण है। पच्चीस-तीस रुपये माहवार इन कागजों के स्तूप पर खर्च हो रहा है।' एक क्षण में उसने गत तीस वर्षों का हिसाब लगा लिया—दस हजार इन कागजी कारनामों पर फेंका गया है—क्या इतने रुपयों में एक फ्रिज, टेलीविजन या सेकंडहैंड मोटर नहीं खरीदी जा सकती थी? कुछ बरस पहले तो ये सभी चीजें और भी सस्ती थीं—आसान किस्तों पर भी हासिल की जा सकती थीं। पांच हजार के बूते किसी भी कूड़ाघर को आधुनिक बनाया जा सकता है। बस, आपका घर माडर्न होना चाहिए, फिर कौन देखता है कि आप भीतर से क्या हैं—क्या धंधा करते हैं—क्या सोचते हैं—दिमाग में बड़ी बातें हैं या गोबर भरा हुआ है।

आवेश में वह नीचे से ऊपर तक कांप उठा—उसके शरीर पर एक अजीब तरह की तमतमाहट फैल गयी। वह उकड़ूं बैठ गया। पत्रिकाओं का एक ढेर

उसने उठाया, पास पड़ी सुतली में उसे बांधकर बगल में दबा लिया। और फिर इधर-उधर आहट लेते हुए वह दूसरे रास्ते से चुपचाप बाहर निकल गया। घर से बाहर निकलकर उसे याद आया कि वह घर से सब्जी का झोला लेकर नहीं आया है। उसने पड़ोसी की मेहंदी की बाड़ में पत्रिकाओं का ढेर रखा और फिर मकान के भीतर दाखिल हो गया। वह जिस रास्ते से पहले बाहर निकला था उसी रास्ते से चोर की मानिंद एक झोला लेकर निकला। बाहर आकर उसने झाड़ी से पत्रिकाओं का ढेर निकाला और बाजार की तरफ बढ़ लिया।

पत्रिकाएं उसने एक 'नावेल स्टोर' पर चार-चार आने के हिसाब से बेचीं। कुल जमा सवा सात रुपये उसके हाथ लगे। इन रुपयों को जेब के हवाले करके उसने स्वयं को बहुत सहज अनुभव किया—उसका सारा शरीर हल्का-फुल्का और मस्तिष्क चिंता-रहित हो गया। आधा घंटे पहले का चहारदीवारी वाला तनाव उसके नज़दीक नाममात्र को भी नहीं रहा। उसे पत्नी और बच्चों के चेहरे, जो विद्रूप और असंतोष के मूर्त्त स्वरूप थे, अब पुलक में डूबे नजर आने लगे। इस जादुई परिवर्तन का मतलब यकायक उसकी समझ में नहीं आया। उसने सुन रखा था कि विदेशों में नशे की ऐसी गोलियां ईजाद हो गयी हैं जिन्हें निगलकर आदमी थोड़ी देर में अपने दुःख-दर्द भूल जाता है और ऊर्ध्व लोक में उड़ने लगता है, लेकिन उसने पिछले कई घंटों से एक बीड़ी तक नहीं पी थी। बीड़ी की याद आते ही उसने निकटवर्ती दुकान से एक सिगरेट खरीदकर जला ली। बीड़ियां पीते-पीते वह सिगरेट के धुएं का स्वाद भूलने लगा था। बीड़ी पीने से उसकी सारी जीभ और हलक में कड़वाहट-सी भर गयी थी।

सिगरेट के बेफिक्र लंबे कशों ने उसे राहत दी और वह लंबे डग भरता हुआ सब्जी मंडी में पहुंच गया। उसने दूर तक पसरे बाजार पर नज़र डाली—हर तरफ बेतुकी भीड़ उमड़ रही थी। आदमियों-मवेशियों और साइकिल तथा रिक्शाओं के बीच से निकलते हुए वह काफी आगे बढ़ गया और अपनी जेब के बेड़े के आधार पर बाजार की वैतरणी पार करने लगा। सब्जियां बहुत महंगी थीं। कुछ के भाव तो पांच रुपये किलो तक पहुंच रहे थे। उसने दो-तीन महंगी सब्जियां खरीदीं और प्रसन्नता से भर उठा—उसे अचेतन में एहसास हुआ कि ये सब्जियां सिर्फ बंग़ले वाले ही खरीदते हैं। हालांकि उसकी खरीदी हुई तरकारी दो वक्त भी मुश्किल से ही खिचने वाली थीं। लेकिन तो भी उसे संतोष था कि अब उसे सब्जी के बारे में घर जाकर किच-किच नहीं सुननी पड़ेगी। जब उसकी जेब में एक-एक रुपये के सिर्फ एक या दो नोट रह गये और कुछ खरीज बजने लगी, तो वह सब्जी बाजार के आखिरी छोर पर जा पहुंचा।

और यहीं पहुंचकर उसे खयाल आया कि छोटे बच्चे के लिए कोई सौगात खरीदनी चाहिए। सामने से एक ठेलेवाला गुज़र रहा था जिसने रेहड़ी पर कई

तरह की मीठी गोलियों का ढेर सजा रखा था। उसने आगे बढ़कर उंगली के संकेत से एक तरह की गोलियों का भाव पूछा। दुकानदार ने अपनी गैसवाली लालटेन बत्ती ठीक करते हुए जवाब दिया—"पचास पैसे की पचास ग्राम।" उसने पचास ग्राम तोलने के लिए कहा। मिठाई वाले ने गोलियां तोलकर एक छोटे-से कागजी लिफाफे में भरकर उसके हाथ में थमा दीं और वह फिर अपनी लालटेन में उलझ गया।

उसने फिर एक दूसरी ढेरी को हाथ लगाकर पूछा, "यह क्या भाव है ?" दुकानदार ने लालटेन छोड़कर एक गमछे से अपने हाथ पोंछते हुए बताया— "अस्सी पैसे की पचास ग्राम।"

"अच्छा, तो पचास ग्राम यह भी दे दो।" और उसने जेब से टटोलकर एक रुपये का नोट निकाल लिया। दुकानदार ने उन गोलियों को एक लिफाफे में डालकर उसकी ओर बढ़ा दिया। उसने दुकानदार के हाथ में रुपया देकर कहा, "पचास पैसे का सिक्का तो मैं पहले दे चुका हूं—इसमें से अस्सी पैसे काट लो।" दुकानदार ने पहले वाली गोलियों के बारे में कुछ नहीं कहा—अपने पीतल के कटोरे में रुपये का नोट डालकर चुपचाप बीस पैसे वापस कर दिये। इसके वाद वह अपना ठेला आगे की तरफ ठेलने लगा।

लेकिन वह जड़ होकर वहीं खड़ा रह गया। यह क्या ? उसने निरीह और छिले हुए आदमी की खाल खींच ली। वह दिमाग पर जोर डालकर सोचने लगा— क्या वाकई मैंने पहले वाली गोलियों के पैसे दिये थे ? वह शंकाकुल होकर जेब में हाथ डालकर भीतर ही भीतर पैसे गिनने लगा। उसने सिगरेट से लेकर सारी सब्जियों तक का तखमीना लगाया, लेकिन जोड़ में बार-बार गड़बड़ होने लगी।

वह स्वयं को आश्वासन देना चाहता था कि उसने मिठाई वाले को पैसे दे दिये हैं—सारी भौतिकता को तिरस्कार की एक मुद्रा से काट फेंकने वाला आदमी क्या इतना बेईमान हो सकता है कि दोगली धातु की अठन्नी पर दयानतदारी को लात मार दे ? नहीं ! नहीं ! ऐसा नहीं हो सकता—पैसे ज़रूर दे दिये होंगे। वह स्वयं पर झुंझला उठा।

भीड़ बढ़ती जा रही थी। वह सड़क से हटते-हटते पटरी पर जा पहुंचा था। उसने अपनी जेब के सारे पैसे निकालकर हाथ में ले लिये और यह भूलकर कि उसकी जान-पहचान के कई लोग उधर से गुज़र रहे होंगे—उन्हें सतर्कता से गिनने लगा। दिमाग का एक हिस्सा पैसे गिन रहा था और दूसरा उसके पूरे व्यक्तित्व का स्क्रीनिंग कर रहा था—यह आदमी जो वैभव को पछाड़ने के लिए सादगी का अचूक अस्त्र हाथ में रखता है—प्रकृति और जीवन से सार्थक संदर्भ खोजने में संलग्न है—सारी ऊंचाइयों को दांव पर लगा चुका है।

उसकी हथेलियां पसीजने लगीं। मिठाई वाला इस बीच काफी आगे सरक

गया था। महान विचारों और क्षुद्रता की मिली-जुली आंधियां उसे इस ओर उस तरफ फेंकने लगीं। सिवाय इसके वह कुछ तय नहीं कर पाया कि अठन्नी का घपला कहीं न कहीं है जरूर—गरीब आदमी को पचास पैसे दिये नहीं गये हैं। पता नहीं दिमाग कितनी शाखाओं और उप-शाखाओं में विभाजित हो गया। एक 'ब्रेन वेव' आयी और उसके सामने एक विकल्प रख गयी —'अस्सी पैसे तो दे ही दिये हैं—क्या एक रुपये तीस पैसे का सामान अस्सी पैसे से ज्यादा लागत का होगा ? मिठाई वाले को कोई खास नुकसान तो नहीं है—अब इस चकल्लस को छोड़ो—पचास पैसे कल किसी अपाहिज को दे देना।'

वह बिना कुछ तय किये पटरी से नीचे उतर गया। अभी वह कठिनाई से चार-छह कदम आगे बढ़ा होगा कि तभी कोई तर्क उसकी चेतना में बिजली की तरह कौंध गया—'बच्चों के लिए मीठी गोलियां ले जा रहे हो और वह भी एक बेहसहारा छोटे दुकानदार को ठगकर ! लानत है—कल बच्चे बीमार पड़ जायेंगे तो डाक्टर को दिखलाने में पचास-सौ तक स्वाहा हो सकते हैं—उस समय सिवाय झींखने के और क्या करोगे ?'

यह तर्क उसे बहुत पिटा हुआ और पुराना लगा, लेकिन इस निम्न मध्यवर्गीय नैतिककता ने उसके कदम तेज कर दिये। ठेले वाला घंटाघर के उस तरफ खड़ा था। उसने जेब से पचास पैसे निकालकर दुकानदार की तरफ बढ़ाते हुए कहा—"पहली वाली गोलियों के पैसे रह गये थे शायद।"

दुकानदार ने उसके दिये हुए सिक्के पीतल के कटोरे में डाल दिये। वह उसकी निस्पृहता और निर्विकार मुद्रा देखकर सोच में पड़ गया—'इसे इन पैसों की कोई चिंता ही नहीं थी ?'

भीड़ से बाहर निकलकर वह बराबर उस वाक्य के बारे में सोचता रहा जो उसने दुकानदार को आठ आने देते हुए कहा था, "पहली वाली गोलियों के पैसे रह गये थे शायद।" 'शायद' उसने क्यों कहा था ? इस 'शायद' से वह संशय-ग्रस्तता के आवरण में अपना उजलापन कायम रखना चाहता था शायद। इसी समय उसे अपनी सारी सूक्तियां एक-एक करके याद आने लगीं जो वह श्रेष्ठ जीवन के संबंध में अपने आश्रितों के सामने रखता था। उसने उन जानी-पहचानी सैकड़ों बार की मन ही मन दोहरायी बातों में अपनी पहचान खोजने की कोशिश की, लेकिन वह एक-दूसरे में गड्डमड्ड होकर रह गयीं। हालांकि मकान अब बहुत नजदीक था, लेकिन उसे चंद कदम बढ़ना भी दूभर लगने लगा था।

रास्ता रुक गया

हिमांशु जोशी

सारी रात नींद नहीं आती।

लालटेन जल रही है। चारों ओर घना अंधेरा है। मूसलाधार पानी गिर रहा है। पास ही घनी झाड़ियों से सीटी की जैसी आवाजें आ रही हैं। ऊंचे-ऊंचे पहाड़। डरावने जंगल—जहां आज भी कभी-कभी मानव-भक्षी शेरों का आतंक छाया रहता है।

मेरी पलकें भारी हैं। न जाने क्यों मन में एक अजीब-सी दहशत घर करती चली जा रही है। ये बड़े-बड़े पहाड़ मुझे अब और भी भयावने लगते हैं।

छोलदारी के बाहर आकर झांकता हूं—दूर, अथाह अंधियारे में, सूनी घाटी से उफनती नदी का शोर उमड़ रहा है। बाढ़ का पानी प्रतिक्षण बढ़ता चला जा रहा है। यदि तीन-चार फुट पानी और बढ़ा तो पुल बह जायेगा !

प्रलय सामने सीना ताने खड़ा है। नींद न जाने कहां खो गयी है। बार-बार मैं इधर-उधर झांक रहा हूं।

"इंजीनियर साहब, सारी इंजीनियरी ताक पर धरी की धरी रह जायेगी। काली नदी की यह काली घाटी काले कारनामों के लिए ही नहीं, काले सांपों के लिए भी बदनाम है। काली नदी का पानी कैसा होगा ?—काला ! फिर सोच लीजिये, 'काले पानी' की सजा आप बिना अपराध क्यों

भुगतें ? इसीलिए अपना तबादला रुकवा लीजिये। अभी कुछ बिगड़ा नहीं।" साथियों ने भले ही कुछ सोचकर कहा हो, लेकिन अब मुझे उस कहने का 'अर्थ' समझ में आने लगा है। पर अब क्या हो सकता है !

मैं विवश भाव से सामने की ओर देखता हूं।

रास्ते के किनारे-किनारे सड़क पर काम करने वाले कुलियों की टूटी-फूटी झोपड़ियां बिखरी हैं। आसपास बिच्छू के कांटेदार पौधों का झाड़-झंखाड़। आग में कहीं-कहीं उपले झोंके जा रहे हैं। कहते हैं—इसकी गंध से सांप पास नहीं फटकते ! इतने बचाव के बावजूद सारी रात—"सांप ! सांप ! बचाओ ! बचाओ !" की आवाजें गूंजती रहती हैं . . .

इसी रफ्तार से सुबह तक पानी बरसता रहा है। घाटी के ऊपर उठता हुआ कुहरा भी कम घना नहीं। रास्ते, पगडंडियां, सब कीचड़ से सने हैं। गैंती, कुदाली, फावड़े लिये, पानी में भीगते नंगे-भूखे मजदूरों के झुण्ड के झुण्ड शिव के बरातियों की तरह काम पर बढ़े चले जा रहे हैं। बारिश ज्यादा होने से पहाड़ धंस गये हैं। शिवालिक की पहाड़ियों के सीने पर सांप की तरह लेटी मोटर की सड़क खिसककर घाटी में चली गयी है। चम्पावत की तरफ से आने वाली यात्री-गाड़ियां जंगल में रुकी हैं। आज तीन दिन हो गये, यही हालत रही तो यात्रियों के भूखे मरने की स्थिति पैदा हो जायेगी। सारा यातायात ठप्प हो गया है।

"इंजीनियर साहब, गैंग तैयार है। चल्थी के उस पार की सड़क आज तैयार हो जायेगी।" ओवरसियर सिर झुकाता हुआ सलामी देता है।

"काम बड़ी स्लो-स्पीड से हो रहा है, रतीराम। क्या बात है ?"

"हुजूर, बरसात जोरों पर है। आधे से ज्यादा मजदूर बीमार पड़े हैं। ठेकेदार ने शायद मिलावट वाला खाना दे दिया है . . . मजदूर भी अधमरे-से हैं, साहब ! काम करते-करते ऊंघने लगते हैं। एक बुढ़िया कल मलबे के साथ-साथ लुढ़कती खड्डे में चली गयी थी। यदि बांज की जड़ हाथ न आती तो उसकी हड्डियां तक नजर न आतीं।"

"इन्हें मजदूरी कितनी मिलती है ?" मैं कुछ सोचता हुआ पूछता हूं।

"सवा दो रुपये मर्दों को, दो रुपये औरतों को, और एक रुपया बच्चों को . . . यही यहां का खुला रेट है। ठेकेदार इससे भी कम में मजदूर ढूंढ़ लाते हैं। गरीब इलाका है, अकाल-महामारी का जोर। मरता क्या न करता, हुजूर।"

पता नहीं वह कब चला जाता है। मैं वैसे ही लेट जाता हूं। सीटी की जैसी आवाजें दिन में भी गूंजती सुनायी देती हैं। इस सबके बावजूद मैं निश्चिंत पड़ा हूं —जैसे मुझे दीन-दुनिया से कोई वास्ता नहीं !

पानी दो फुट और ऊपर चढ़ गया है। पुल पर पहले से ही दरारें हैं। सीमेंट के बदले ठेकेदारों ने रेत मिला दी है।

इस मुल्क का क्या बनेगा ? मुझे सूझता नहीं।

"चाय !" श्रीमती जी सहसा जगाती हैं।

मैं वैसे ही अनमने भाव से चुपचाप चुस्कियां लेता हूं।

"यह मुसीबत कब तक है ?" श्रीमती जी के चेहरे पर चिन्ता के भाव स्पष्ट झलक रहे हैं, "लगता है हमपर 'शनीचर' का असर है।"

'हमपर ही नहीं, पूरे देश पर . . .।' कहना चाहता हूं, पर कह नहीं पाता।

वह वैसी ही अविचल खड़ी रहती हैं।

"पता नहीं ये कैसे पोले पहाड़ हैं—खड़िया के। एक ही रात की बरसात में मीलों लम्बी सड़क न जाने कहां चली जाती है।" कुछ रुककर वह फिर कहती हैं, "या तो पहाड़ पोले हैं, मिट्टी कच्ची है, या सड़कें ही ठीक ढंग से नहीं बनतीं। मुझे तो लगता है—नींव कच्ची है।"

श्रीमतीजी रीता प्याला लेकर चली गयी हैं। दूरबीन चढ़ाकर मैं देख रहा हूं—काली नदी की नागिन-सी लहरें फन हिलाती, जीभ लपलपाती, खतरे के बिन्दु के ऊपर झांक रही हैं। दूसरी ओर कीड़ों से भी छोटे-छोटे आदमी छिछली चट्टानों पर छिपकलियों की तरह चिपके हुए हैं। बार-बार सुरंगों के फटने की आवाजें आ रही हैं।

सम्पर्क चारों ओर से टूट गया है।

मैं द्वीप की तरह घिर गया हूं।

कुछ सूझता नहीं क्या करूं, क्या न करूं ? फिर भी कुर्सी पर लेट जाता हूं। दूरबीन बिस्तर पर पटककर आंखें मूंद लेता हूं। रात-भर नींद न आने से पलकें भारी हैं। तबीयत भारी है। किसी भी काम में जी नहीं लगता।

यों ही पड़े-पड़े एक झपकी-सी आयी थी कि फिर शोरगुल सुनायी देता है—पास के मोड़ से किसी औरत के चीखने-चिल्लाने की आवाज।

अचकचाता हुआ जागता हूं। बिना बरसाती या छतरी लिये हड़बड़ाता हुआ उस ओर लपकता हूं। पीछे-पीछे कुत्ता भौंकता हुआ दौड़ता है। किसी अप्रत्याशित दुर्घटना की सूचना पाकर श्रीमती जी भी एकाएक भागने लगती हैं। पीछे-पीछे बच्चे और नौकर भी।

कुछ कदम चलने पर दीखता है—काले, मैले-कुचैले चीथड़ों में लिपटी एक मजदूरन अपने बच्चे को सीने से लगाये रो रही है। एक मजदूर उसे सोटी से तड़ातड़ पीट रहा है। गंदी-गंदी गालियां दे रहा है। सारे मजदूर खड़े हैं। जमादार, ओवरसियर, ठेकेदार सब तमाशा देख रहे हैं।

मेरे पहुंचते ही सब एकाएक सहमकर खड़े हो जाते हैं। "क्या बात है ?" पूछने पर किसीके गले से भी आवाज नहीं निकलती। ओवरसियर सिर खुजाता हुआ सामने आता है, "हुजूर, इस एक औरत के लिए सारी गैंग रुकी पड़ी है. . .।"

"यह आदमी कौन है ? ऐसी बेरहमी से क्यों पीट रहा है ?"

"इसका आदमी है, सरकार।"

"तमाशा क्या है यह सब ?" कड़ककर पूछता हूं तो ओवरसियर का मुंह निकल आता है। अपने सूखे होंठ चाटता हुआ कहता है, "गोदी में यह इसका बच्चा है, सरकार ! इसे अकेला छोड़कर यह काम पर जाना नहीं चाहती।"

"तो साथ क्यों नहीं ले जाती फिर ?" बात काटता हुआ पूछता हूं।

"हुजूर, वहां ऊपर पहाड़ी पर से पत्थर लुढ़कते रहते हैं। एक बच्चा कुछ दिन पहले घायल हो गया था . . .।"

"कल तक क्या होता था ?"

"साथ वाली की नन्हीं बच्ची देख-भाल कर देती थी। कल शाम वह अपने मामा के घर चली गयी है।"

"तो काम पर न जाये।"

"काम पर नहीं जायेगी तो सरकार, खायेगी क्या ? यही तो इसका पति कह रहा है। पर यह अपने बच्चे को कलेजे से हटाकर जमीन पर नहीं रखना चाहती। कहती है—बच्चा यहां अकेला पड़ा रहेगा तो सांप खा जायेगा।"

सांप खा जायेगा !

तो क्या हो ? असमंजस में डूबा मैं सोचता रहता हूं कि तभी श्रीमती जी मेरे परेशान चेहरे की ओर देखती हुई कहती हैं, "बच्चे को हमारे कैम्प में भेज दो।"

"हां-हां ! ठीक कहती हो।" इस समाधान से सचमुच मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है, "चपरासी दिन-भर खाली बैठा ऊंघता रहता है, वह देख लेगा। बीच में दूध पिलाने के लिए आ जाना। . . . जाओ ! अब काम पर जाओ सब लोग। सड़क आज हर हालत में तैयार होनी है, समझे।"

देखता हूं उस औरत पर जैसे मेरी बात का रंचमात्र भी असर नहीं हुआ। वह उसी तरह निश्चल खड़ी है।

"अब क्या है ?" इस बार सच ही मैं झुंझला उठता हूं।

औरत आंचल में मुंह छिपा लेती है, "सरकार, बच्चा बीमार है।"

"बीमार है ? क्या बीमार ?"

"सूखे का जैसा पता नहीं क्या रोग लग गया है इसे।" वह रो पड़ती है। फटे आंचल में लिपटे बच्चे को मेरे पांव पर, यानी गीली धरती पर लिटा देती है। फिर झटके से मुंह फेरती हुई जोर से आंखें मूंद लेती है।

बच्चे को देखते ही मैं झट पीछे हट जाता हूं—जैसे बिजली का करेण्ट छू गया हो। कुछ कहते बनता नहीं। बच्चे का हिलना-डूलना बंद है। सांस रुकी हुई है। आंखें मुंदी हैं। मुंह खुला है। नन्हे-नन्हे दूधिया दांत बाहर झांक रहे हैं, जैसे हंस रहा हो, उपहास कर रहा हो।

मैं कुछ भी कह नहीं पाता। रक्त जमने-सा लगता है मेरा। किसी तरह मैं उदास मन डेरे की तरफ मुड़ता हूं।. . सुनता हूं—गैंग काम पर चली गयी है। वह औरत मरे हुए बच्चे को सीने से लगाये बावली-सी फिर रही है और अब पुल के सहारे खड़ी फूट-फूटकर रो रही है।

"क्या बात थी ? बच्चा जिंदा नहीं था न ?" श्रीमती जी पूछती हैं।

"शायद।"

"क्या सांप ने डस लिया था ?"

"हो सकता है . . ."

कुछ सोचती हुई वह फिर पूछती हैं, "जहर ज्यादा था क्या ? सांप जहरीला होगा।"

मैं चुप रहता हूं।

"कौन जाने गेहुआं या बेतिया हो। सुना है ऐसे सांप यहां बहुत होते हैं।" वह जैसे अपने को ही सुना रही हों।

मैं कहना चाहता हूं—सांप बेतिया ही नहीं, बड़ा ज़हरीला भी होता है। तुम नहीं जानतीं, उनसे भी तेज जहर होता है आदमी का . . .। तुम नहीं समझ सकतीं यह सब।

पता नहीं, कब रात घिर आयी है। अब तक भी बारिश है। अब तक भी मजदूर गैस जलाकर छिछली चट्टानों से चिपके हुए हैं। कुछ घर लौट आये हैं, कुछ घर लौट रहे हैं। लेकिन चारों ओर शोरगुल उसी तरह मच रहा है। झाड़ियों से सीटी की जैसी आवाजें आ रही हैं। अंधेरे में काली-काली आंखें चमक रही हैं। फन हिल रहे हैं—सांप ! सांप ! जागो ! जागो।

अंधेरी रात जैसे पागल हो गयी है।

मैं आंखें मूंदकर, माथा दबाकर बैठ जाता हूं। न जाने कब तक बैठा रहता हूं। तभी कोई बताता है कि मोर्चा फतह कर लिया है। रास्ता बन गया है। सड़क खुल गयी है।

लेकिन मुझे यह सुनकर रंचमात्र भी खुशी नहीं होती, क्योंकि उससे पहले ही मैं सुन चुका हूं—"पुल बह गया है और रास्ता रुक गया है, हमेशा-हमेशा के लिए।"

लेखक-परिचय

अभिमन्यु अनत

मारीशस के सर्वाग्रणी कथाकार। रचनाओं में मारीशस की माटी की तीखी गंध तथा शोषित-तिरस्कृत व्यक्ति की पक्षधरता। अब तक सात उपन्यास, दो कहानी-संग्रह, एक नाटक तथा एक कविता-संग्रह प्रकाशित। चित्रकला में भी रुचि। जन्म : ९ अगस्त, १९३७। सम्प्रति मोका (मारीशस) में महात्मा गांधी संस्थान में प्रकाशन विभाग के निदेशक।

आलमशाह खान

राजस्थान के अग्रणी कथाकार। कहानियों में जन-जीवन की तड़पन की तीखी अनुभूति। पहला कहानी-संग्रह 'परायी प्यास का सफर' प्रेस में। उदयपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक। जन्म: मार्च १९३६।

इब्राहीम शरीफ

हिन्दी कहानी को गौरवमंडित करने वाले प्रमुख कथाकार। 'कई सूरजों के बीच' तथा '. . .आखिरी टुकड़ा'—दो कहानी-संग्रह तथा 'अंधेरे के साथ'—एक उपन्यास। हर कहानी आम आदमी की जिंदगी की अकथ तकलीफों का दस्तावेज। ३८ वर्ष की आयु में २७ अप्रैल, १९७७ को निधन।

कमलेश्वर

देश के शीर्षस्थ कथाकारों में प्रमुख। जीवन की विडंबनाओं को उकेरने में बेजोड़। अनेक कहानी-संग्रह, उपन्यास, नाटक तथा संपादित संकलन प्रकाशित। बहुमुखी प्रतिभा के धनी। दूर-दर्शन तथा सिने-जगत् में विशिष्ट स्थान। लगभग ग्यारह वर्षों तक 'सारिका' का संपादन। समांतर चिंतन के उत्प्रेरक। जन्म: ६ जनवरी, १९३२।

कामतानाथ

हिन्दी कहानी को सहजता प्रदान करने वाले एक अग्रणी कथाकार। समांतर सोच के प्रवक्ता। 'तीसरी सांस' तथा 'छुट्टियां'—दो कहानी-संग्रह। 'एक और हिंदुस्तान', 'समुद्र तट पर खुलने वाली खिड़की' तथा 'सुबह होने तक'—तीन उपन्यास। जन्म : १९३५। रिजर्व बैंक ऑव इंडिया में स्टाफ आफिसर।

जितेंद्र भाटिया

आम आदमी की लड़ाई को एक नया आयाम देने वाले अग्रणी लेखक। समांतर सोच के प्रवक्ता। 'रक्तजीवी' तथा 'शहादतनामा'—दो कहानी-संग्रह। समय-सीमांत'—उपन्यास। जन्म : १५ सितंबर, १९४६। पेशे से टैक्नॉलोजिस्ट।

प्रदीप पंत

आम आदमी की जिजीविषा से जुड़ी हुई सशक्त कहानियां लिखते हैं। 'आम आदमी का शव'—कहानी-संग्रह। 'एक असंभव मृत्यु' तथा 'अंतराल के बाद'—दो उपन्यास। 'मैं गुट निरपेक्ष हूं'—व्यंग्य-संग्रह। जन्म : २४ अप्रैल, १९४१। सम्प्रति—आकाशवाणी से सम्बद्ध।

मधुमालती

कहने को अब तक मुश्किल से आधा दर्जन कहानियां लिखी हैं, लेकिन हर कहानी अपनी तरह की मिसाल है। कुछ रेडियो नाटक भी। सम्प्रति दिल्ली दूर-दर्शन में सहायक केंद्र निदेशक।

माहेश्वर

हिन्दी कहानी के एक सुचर्चित नाम। रचनाएं मार्क्सी चिंतन की वाहक। 'डॉ० माहेश्वर की कहानियां' तथा 'स्पर्श'—दो कहानी-संग्रह। 'हिन्दी-बंगला नाटक'—शोध-प्रबंध। 'शुरुआत' के कवि। जन्म : १५ जून, १९३०। संप्रति 'द मैकमिलन कंपनी ऑव इंडिया' के सम्पादकीय विभाग से संबद्ध।

रमेश गुप्त

कहानियां शीर्षस्थ पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहती हैं। हर कहानी में नयी जमीन तोड़ने की ललक। 'शीशे की दीवार'—कहानी-संग्रह। कई उपन्यास प्रकाशित। जन्म : १० अक्तूबर, १९३२। भारत सरकार में उपसचिव।

शक्तिपाल केवल

हिन्दी कहानी में 'तीसरे पक्षधर' के उद्घोषक। तीखा तेवर। 'जिन्दगी और दीवार'—कहानी-संग्रह। 'टूटती संधियां'—उपन्यास। '२५ श्रेष्ठ कहानियां'—संपादन। जन्म : १७ जनवरी, १९४३। संप्रति—फ्री लांसिंग।

श्रवणकुमार

मुख्यतः कहानीकार। कहानियों में विडंबना, विरोधाभास, तथा आम आदमी के संघर्ष का चित्रण। 'अंधेरे की आंखें', 'जहर', 'चौपाये', 'कांपती आवाज' तथा 'दाता का शुक्र है!'—पांच कहानी-संग्रह। 'प्रेत'—लघु उपन्यास। 'क्यों?' तथा 'हिन्दी शॉर्ट स्टोरीज'—दो संपादित कहानी-संकलन। हिन्दी तथा अंग्रेजी में समान गति। जन्म : १३ अगस्त, १९३१। संप्रति—'योजना' (पाक्षिक) से संबद्ध।

सच्चिदानन्द धूमकेतु

हिन्दी कहानी में एक तेजी से उभरता नाम। कहानियों में ग्रामीण जीवन की प्रामाणिकता। 'आखिरी कैफियत के बाद', 'अंजुरी-भर राख' तथा 'असली हिन्दुस्तान'—तीन कहानी-संग्रह। 'झोंपड़ी और महल', 'माटी की महक' तथा 'जलता रेगिस्तान'—तीन उपन्यास। 'आदमी'—नाटक। आलोचक। जन्म : दिसंबर, १९३९। सम्प्रति—बिहार में डिप्टी कलेक्टर।

सुदीप

हिन्दी कहानी में एक संतुलित, सधा हुआ स्वर। कहानियां समकालीन प्रश्नों को नये कोण से उठाती हैं। जन्म : अप्रैल, १९४२। पहले 'सारिका', फिर 'रविवार' और अब 'करेंट' (हिन्दी) से संबद्ध।

सुरेन्द्र अरोड़ा

कहानियों में आज के यांत्रिक माहौल में आम आदमी की छटपटाहट का चित्रण। पहले 'अकहानी' और अब 'समांतर सोच' के पक्षधर। 'आग का जंगल' तथा 'आबनूस'—दो कहानी-शंग्रह। जन्म : ३० मई, १९४०। संप्रति—कुद्रेमुख आयरन ओर, बंगलौर, में हिंदी अधिकारी।

सुरेश उनियाल

हिंदी कहानी में युवा स्वर। आज की परिस्थितियों के प्रति तीखा आक्रोश।

'दर असल'—कहानी-संग्रह । 'एक अभियान और' के एक संपादक । कई महत्व-पूर्ण कृतियों के हिन्दी अनुवाद । जन्म : ४ फरवरी, १९४७ । संप्रति—'सारिका' से संबद्ध ।

से० रा० यात्री

आज की हिंदी कहानी के एक प्रमुख स्वर। कहानी में आम आदमी की तकलीफों को सशक्त अभिव्यक्ति । 'दूसरे चेहरे','अलग-अलग अस्वीकार', 'काल विदूषक' तथा 'धरातल'—चार कहानी-संग्रह । 'दराजों में बंद दस्तावेज' तथा 'लौटते हुए'—दो उपन्यास । जन्म : अगस्त, १९३३ । प्राध्यापक ।

हिमांशु जोशी

मानवीय संवेदना के कुशल चितेरे । कहानियों में समसामयिक प्रश्नों से जूझन । 'अंततः', 'मनुष्य-चिह्न', 'रथचक्र' तथा 'जलते हुए डैने'—चार कहानी-संग्रह । 'अरण्य', 'महासागर', 'छाया मत छूना मन', 'कगार की आग', 'समय साक्षी है'—पांच उपन्यास । 'श्रेष्ठ समांतर कहानियां'—संपादित कहानी-संकलन । जन्म : ४ मई, १९३५ । संप्रति—साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से सम्बद्ध ।

●●●

रूपक प्रिंटर्स,नवीन शाहदरा, दिल्ली, द्वारा मुद्रित